राष्ट्रवाद का नारी परिवेश

दिल्ली 1930-47

स्टीफ़ेन लेग

सारांश : इस आलेख का उद्देश्य उन तरीक़ों को रेखांकित करना है जिनके ज़रिए महिलाओं ने एक तरफ़ तो महिलाओं की सहभागिता को प्रोत्साहित करने और दूसरी तरफ़ इस सहभागिता को घरों की चारदीवारी तक ही क़ैद रखने की कोशिश कर रहे राष्ट्रीय आंदोलन के भीतर अपनी जगह बनाई। यद्यपि राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में उन महिलाओं की मौजूदगी को रेखांकित किया गया है जिन्होंने घर से बाहर आकर सार्वजनिक रूप से राष्ट्रवादी आंदोलन में हिस्सा लिया परंतु बहुत सारी महिलाएँ ऐसी भी थीं जो इन जुलूसों और बैठकों को निजी दायरे में रहते हुए मदद दे रही थीं। हालांकि घर को उन सामुदायिक, स्थानीय या राष्ट्रीय स्तर की गतिविधियों के दायरे से बाहर नहीं माना जा सकता है जिनके ज़रिए उसकी शक्ल तय होती है फिर भी घर के भीतर राजनीतिक शिरकत के स्वरूपों की पड़ताल के ज़रिए हमें पार्थ चटर्जी की इस अवधारणा को सुधारने में मदद मिल सकती है कि भारतीय मध्यवर्गीय घर ख़ामोश कराने और पुनराधीनता स्थापित करने का बिंदु था।

परिचय

बीसवीं सदी के औपनिवेशिक भारतीय समाज में राजनीतिक स्वतंत्रता और महिलाओं के जीवनस्तर में सुधार — इन दोनों के लिए संघर्ष चला। एक संघर्ष में सतही ढंग से राष्ट्र पर ध्यान केंद्रित किया गया जबकि दूसरे में यौन और लैंगिक आयामों को संबोधित किया गया। अगर इन दोनों को अलग-अलग आंदोलनों के रूप में देखा जाए तो बाहरी तौर पर वह अंतर्विरोधी दिखाई दे सकते हैं। पहले में भारतीयों के प्रति दमनकारी तथा असभ्य रवैया अपनाने के लिए ब्रिटिश सरकार की आलोचना की गई जबकि दूसरे संघर्ष में भारतीय पुरुषों को इस बात के लिए लताड़ पड़ी कि वह भी महिलाओं के प्रति वैसा ही रवैया रखते हैं जैसा ब्रिटिश सरकार भारतीयों के प्रति रखती है। फिर भी इन दोनों आंदोलनों के बीच एक क़िस्म का तारतम्य था जो हमेशा भले न रहा हो। भारतीय महिलाओं की हालत सुधारने के प्रयास से प्राच्यवादियों का यह दावा कमज़ोर किया जा सकता था कि भारतीय समाज बर्बर और पिछड़ा हुआ है। महिलाएँ न केवल राष्ट्रवादी बच्चों को जन्म तथा पालन-पोषण देकर एक स्वतंत्र भारत के निर्माण में मददगार बन सकती थीं बल्कि शिक्षा मिलने पर वह स्वतंत्रता संघर्ष में प्रत्यक्ष योगदान भी दे सकती थीं। यह एक ऐसा संघर्ष था जिसमें स्वतंत्रता के बाद महिलाओं के लिए सम्मान और सुरक्षा का आश्वासन निहित था।

इस आलेख का उद्देश्य उन तरीक़ों को रेखांकित करना है जिनके ज़रिए महिलाओं ने एक तरफ़ तो महिलाओं की सहभागिता को प्रोत्साहित करने और दूसरी तरफ़ इस सहभागिता को घरों की चारदीवारी तक ही क़ैद रखने की कोशिश कर रहे राष्ट्रीय आंदोलन के भीतर अपनी जगह बनाई। यद्यपि राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में ऐसी महिलाओं की मौजूदगी को रेखांकित किया गया है जिन्होंने घर से बाहर आकर सार्वजनिक रूप से राष्ट्रवादी आंदोलन में हिस्सा लिया, परंतु बहुत सारी महिलाएँ ऐसी भी थीं जो इन जुलूसों और बैठकों को निजी दायरे में रहते हुए मदद दे रही थीं। हालांकि घर को उन सामुदायिक, स्थानीय या राष्ट्रीय स्तर की गतिविधियों के दायरे

से बाहर नहीं माना जा सकता है जिनके ज़रिए उसकी शक्ल तय होती है फिर भी घर के भीतर राजनीतिक शिरकत के स्वरूपों की पड़ताल के ज़रिए हमें यह समझने में मदद मिल सकती है कि भारतीय मध्यवर्गीय घर चुप्पी लादने और पराधीनता को पुनर्स्थापित करने का स्थल नहीं था।

इस शोध की शुरुआत जेंडर और राष्ट्रवाद पर अब तक हुए अनुसंधानों के सार-संक्षेप के साथ की गई है। इसमें दर्शाया गया है कि यद्यपि महिलाओं को राष्ट्र की प्रतिनिधि के रूप में लामबंद किया गया परंतु अकसरहाँ उन्हें राष्ट्रवादी आंदोलन में सक्रिय हिस्सेदारी से बेदख़ल भी किया गया है। महिलाओं को ख़ामोश कराने की कोशिश करने वाले अपेक्षतया समतावादी राष्ट्रवादों की 'लैंगिक विडंबना' उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत पर भी लागू होती दिखाई देती है। परंतु इस लेख में तर्क दिया गया है कि पार्थ चटर्जी जैसे लेखकों ने पुनराधीनता (resubjection) क़ायम करके एक नई पितृसत्ता को प्रवाहित करने की कोशिशों को गड्डमड्ड कर दिया है। पार्थ चटर्जी जैसे लेखकों ने नई पितृसत्ता गढ़ने की कोशिशों का अधीनता की पुनर्स्थापना के प्रयासों के साथ घालमेल कर दिया है।

गृहस्थी को परंपरा और ख़ामोशी के स्थल के रूप देखने की चटर्जी की पेशकश के बरक्स हमने गांधी के सपने को रखा है जिसमें गृहस्थी आधारित नारी सक्रियता के लिए पर्याप्त अवकाश था। घर के स्वरूप को लेकर 'गृहस्थलों' पर बेल हुक्स के शोध यह समझने में मदद दे सकते हैं कि महिलाएँ घर पर रहकर राजनीतिक रूप से किस तरह सक्रिय रह सकती थीं। इस अवधारणा को 1930-47 के बीच दिल्ली में महिलाओं की घरेलू राजनीतिक गतिविधियों की वस्तुनिष्ठ 'केस स्टडीज़' को सामने लाने के लिए इस्तेमाल किया गया है। जिस तरह घर को बाहरी राजनीति से हीन नहीं माना जा सकता उसी तरह घर की गतिविधियाँ भी बाहरी दुनिया की गतिविधियों के साथ अनिवार्य रूप से नथी-गुँथी रहती हैं। निष्कर्ष यह है कि बहुत सारी महिलाओं ने या तो गांधी के नुस्ख़े को ख़ारिज कर दिया या वह 'नई पितृसत्ता' के दायरे के भीतर पुनराधीनता की उसी नियति का शिकार बन गईं जिसका चटर्जी ने ज़िक्र किया है।

पद्धति

यह शोध लेख एक मौखिक इतिहास परियोजना का नतीजा है। पर्क्स और थॉमसन (1998, पृष्ठ 9) ने तर्क दिया है कि यद्यपि इस तरह की कोशिशें 'इतिहास से ओझल' लोगों के साक्ष्यों को रोशनी में ला सकती हैं परंतु याददाश्त की विश्वसनीयता और जिन संबंधों के तहत साक्षात्कार लिया जाता है उन संबंधों की विश्वसनीयता एक जोखिम भरी समस्या होती है। इस अनुसंधान के पीछे निहित पद्धति पर चर्चा करने के बाद संक्षेप में ऐतिहासिक वृत्तांतों और 'सबॉल्टर्न खंडों' की पारस्परिक अंतर्क्रिया पर भी संक्षेप में बात की जाएगी।

मैंने ऐसे 42 लोगों के साक्षात्कार लिए जिन्हें 1947 से पहले की दिल्ली के बारे में कुछ याद है। मैंने कई ऐसे लोगों से भी बात की जिनकी पारिवारिक स्मृतियों और भावनाओं में स्वतंत्रता से पहले की घटनाएँ आज भी मौजूद हैं। इन साक्षात्कारों को कैसेट में रिकॉर्ड करने के बाद उनका लिप्यंतर किया गया और साक्षात्कार की प्रक्रिया में दर्ज की गई अतिरिक्त टिप्पणियाँ जोड़ी गईं।

1947 में बँटवारे के बाद हुई भारी उथल-पुथल और अगले पचास सालों के दौरान दिल्ली के भारी विस्तार के कारण शोध प्रक्रिया काफ़ी जटिल हो गई है। इस दौरान दिल्ली के बहुत सारे पुराने बाशिंदे शहर की चारदीवारी से बाहर चले गए जबकि मेरे ज़्यादातर अनुसंधान का केंद्रबिंदु यही इलाक़ा था। यहाँ की ज़्यादातर मुस्लिम आबादी पाकिस्तान चली गई थी जबकि शहरी विकास ने भी ऐसे बहुत सारे समुदायों को नष्ट कर दिया जो राष्ट्रवादी आंदोलन के सांस्कृतिक भूगोल को समझने के लिए अप्रतिम रूप से महत्वपूर्ण थे। इसमें इस तरह के कई नेटवर्क अस्तित्व में आए जिन्होंने शहर के भीतर अलग-अलग इलाक़ों और अलग-अलग सामाजिक समूहों के अनुभवों को बेपर्द किया। अनुवाद की मदद ली गई, हालाँकि जिन लोगों से बात की गई उनमें से ज़्यादातर ऐसे थे जो अंग्रेज़ी बोल सकते थे। यहाँ जो परिणाम प्रस्तुत किए गए हैं उनमें ऐसी स्मृतियों पर भी विचार किया गया है जो ख़ासतौर से घरेलू दायरे से ताल्लुक़ रखती थीं हालाँकि संक्षेप में दूसरे साक्षात्कारों का भी उल्लेख किया गया है।

इन स्मृतियों की विश्वसनीयता स्थापित करने के लिए अख़बारों, औपनिवेशिक एवं राष्ट्रवादी अभिलेखागारों के रिकॉर्डों, ग्रंथ सूची निर्देशिकाओं और संस्मरणों, इन सबका इस्तेमाल किया गया।

भारतीय संदर्भ में इतिहास को याद करने की प्रक्रिया के स्वरूप को सबॉल्टर्न अध्ययन से पैदा होने वाले सिद्धांतों और शोधों के ज़रिए विशेष रूप से संबोधित किया गया है। 'निम्नवर्गीय अध्ययन' की धारा ने औपनिवेशिक, राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी सोद्देश्यवादी आख्यानों को ख़ारिज किया है जिनमें सभी क्रियाओं और विचारों को किसी न किसी रूप में क्रमशः औपनिवेशिक अधीनता, राष्ट्रीय मुक्ति या वर्गीय चेतना में योगदान देने वाला दिखाया जाता था (प्रकाश, 1990, पृष्ठ 399)। इसकी बजाय 'निम्नवर्गीय अध्ययन' की धारा ने ऐसे निम्नवर्गीय विद्रोहों की स्वायत्तता पर ज़ोर दिया गया है जिन्हें अब तक अभिलेखागारों में जगह नहीं मिली थी (लडेन, 2001, पृष्ठ 9)।

बाद के अध्ययनों ने राष्ट्र के उन विभिन्न 'खंडों' की जाँच करते हुए शोध के दायरे को निम्नवर्गीय राजनीति से मनोगति तक विस्तार प्रदान कर दिया, जिनके पास अपने अलग आख्यान नहीं थे। चक्रबर्ती (1998, पृष्ठ 475) ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि निम्नवर्गीय अतीत हाशिए के या कमतर समूहों के अतीत थे और निरपेक्ष रूप से देखा जाए तो अभिजात्य और वर्चस्वी, दोनों समूहों के अपने निम्नवर्गीय तत्व होते हैं। चटर्जी (1992, पृष्ठ 42) ने कलकत्ता के मध्यवर्ग की 'मध्यता' पर ज़ोर देते हुए 'अभिजात्य की निम्नवर्गीयता' का अध्ययन किया है। यह वर्ग स्वयं को औपनिवेशिक प्राधिकार के वर्चस्व से भी दबा हुआ मानता था परंतु इसके साथ ही नए राजनीतिक हलक़े, भारतीय राष्ट्रीय कॉङ्ग्रेस[1] और देसी आबादी का नेता भी मानता था। मध्यवर्ग और उच्च जातियों का उनके आंतरिक विभाजनों के लिए और ब्रिटिश सरकार की मुख़ालफ़त के लिए भी अध्ययन किया जा सकता है हालाँकि उनकी स्थिति प्रभावशाली थी। मेरा अनुसंधान दिल्ली की आबादी के उसी हिस्से से संबंधित है जिसने राज का विरोध किया और शहरी जनता को दिशा देने की कोशिश की तथा साथ ही महिलाओं की अधीनता का साँचा भी गढ़ा।

'सबॉल्टर्न के खंड' न केवल अदालती अभिलेखों, अख़बारों और संस्मरणों में मौजूद हैं बल्कि वह चीख़ों, अफ़वाहों, गालियों, मंदिरों और नाम निर्धारण की पद्धतियों में भी ज़िंदा हैं (पांडे, 1995, पृष्ठ 225)। निम्नवर्गीय अध्ययन अल्पसंख्यक भाषाओं और स्मृतियों को अभिलेखागार स्रोतों की खोजबीन के ज़रिए और मौखिक, प्रतीकात्मक, देसी या नाटकीय, नाना प्रकार के देसी इतिहासों की पड़ताल के ज़रिए मुक्त कराने की कोशिश करते हैं। यहाँ इस बात की युरोप केंद्रित ऐतिहासिक समझ को भी चुनौती दी जाती है कि कौन सा साक्ष्य 'पुष्टि योग्य' है (चक्रबर्ती, 1991, पृष्ठ 105)। दूसरी तरफ़ इस बात को भी रेखांकित किया जा सकता है कि परिप्रेक्ष्य के कौन से खंड 'सही' या 'पारदर्शी' नहीं हैं बल्कि वह भी आधिकारिक अभिलेखों की तरह सत्ता से दबे और मनोगत ही हैं। जैसा कि अमीन (1995, पृष्ठ 118) ने कहा है, "निम्नवर्गीय लोग अपनी खुद की स्मृतियाँ रचते हैं परंतु वह उन्हें अपनी मर्ज़ी से नहीं रचते।"

बुटालिया और अमीन, दोनों ने अतीत की घटनाओं का अध्ययन करने के लिए यादों का इस्तेमाल किया है। उन्होंने इस बात को रेखांकित किया है कि इस तरह की यादें 'प्रभावित' होती हैं और जितना ज़ोर 'तथ्य' पर दिया जाता है उतना ही ज़ोर 'याददाश्त' पर भी दिया जाना चाहिए (बुटालिया, 2000 , पृष्ठ 8)। अमीन (1995, पृष्ठ 194) ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि उनका उद्देश्य रैखिक इतिहास की बजाय 'आख्यानों के एक उलझे हुए, आपस में गुँथे और खपरैली जाल' को सामने लाना है। इस काम के लिए उन्होंने प्रत्यक्षदर्शियों और उनके परिवार वालों, दोनों की यादों का सहारा लेकर अतीत से जुड़ी सूचनाओं तक पहुँचने की कोशिश की है। राष्ट्रवादी घर के स्वरूप का विश्लेषण करने के लिए मैंने राष्ट्रवादी आंदोलन से जुड़े परिवारों के बेटे-बेटियों से भी बात की है ताकि उन अनुभवों को सुरक्षित रखा जा सके जो "इतिहासकार के लिए जल्दी ही मर जाएँगे" (अमीन, 1995, पृष्ठ 194)। दिल्ली में जब भी कभी मैंने अपनी यह इच्छा ज़ाहिर की कि मैं कुछ और लोगों से बात करना चाहता हूँ तो सबसे ज़्यादा बार यही जवाब सुनने को मिला, 'अगर आप दस साल पहले आते तो' या 'उनमें से फ़लाँ-फ़लाँ तो मर चुके हैं।' इन तरीक़ों में स्मृति विकार और विरूदावलि लेखन के ख़तरे मौजूद हैं परंतु अगर हमें राष्ट्रवादी आंदोलन में महिलाओं के योगदान की ऐसी शृंखला रचनी है जिसमें स्थानीय कॉङ्ग्रेसी

संघर्ष के 'बहुश्रुत ज्ञान' और घरेलू दायरे के 'परित्यक्त ज्ञान' (फूको, 1980, पृष्ठ 82), दोनों का समावेश किया जा सकता है तो हमें इन ख़तरों का सामना करना ही होगा। आगे के हिस्से में हम दिल्ली के मौखिक इतिहास के (अ)विश्वसनीय और अड़ियल ढंग से स्थानीय स्वरूप तथा हस्तांतरणीय व सामान्य सैद्धांतिक गल्प के रास्ते को खंगालने की कोशिश करेंगे।

राष्ट्रवाद और जेंडर

यदि कांदियोति (2000, पृष्ठ 492) के हिसाब से चला जाए तो महिलाओं और राष्ट्रवाद के बीच निहित संबंधों की जाँच करने वाले अनुसंधानों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। एक श्रेणी में ऐसे अध्ययन आएँगे जो महिलाओं को राष्ट्र की प्रतिनिधि के रूप में देखते हैं और दूसरी में वह अध्ययन आएँगे जिनमें राष्ट्रवादी उद्यम में महिलाओं की शिरकत पर ज़ोर दिया गया है यानी जिनमें वह राष्ट्रवादी आंदोलन का विषय या वाहक रही हैं।

अधीनस्थता और स्वतंत्र भूमिका के बीच महिलाओं की यह तनावग्रस्त एवं संघर्षपूर्ण अवस्थिति ही मेयर (2000, पृष्ठ 2) की "राष्ट्रवाद की लैंगिक विडंबना" के केंद्र में रही है। अपने समतामूलक भाष्य के बावजूद मेयर का मानना है कि राष्ट्र पुरुषों की संपत्ति है। 'राष्ट्र' और 'महिला' सामाजिक निर्मितियाँ हैं जिनकी लगातार पुनर्रचना और रक्षा की जाती रही है। ग़ौरतलब है कि राष्ट्र अपने आप में भी एक लैंगिक अवधारणा है (शार्प, 1996; रैडक्लिफ़, 1999; रेनकोड–निल्सन व तेत्रो, 2000)। राष्ट्र के भीतर 'लैंगिक अनुशासन' होते हैं (कॉनेल, 1990, पृष्ठ 523) जिनकी बुनियाद श्रम विभाजन, सत्ता संरचना और भावनात्मक बँधनों पर टिकी होती है। जब आकांक्षी राष्ट्र अपने लैंगिक अनुशासन को अभिव्यक्त करने की कोशिश करता है तो उसके हृदय में निहित 'विडंबनाएँ' उजागर हो जाती हैं। यह बेपर्दगी अकसर राष्ट्रवादी आंदोलनों के 'आधुनिकता' के नाम पर नवीनता और 'परंपरा' के नाम पर संरक्षण के दावों के बीच अंतर्विरोध का रूप ले लेती है। ख़ासतौर से उपनिवेशवाद विरोधी संदर्भ में महिलाओं को एक नए, आधुनिक राष्ट्र के प्रतीकों के रूप में किया जाता है। वह एक ऐसे राष्ट्र का प्रतीक बनती हैं जिसका न केवल प्रतिनिधित्व किया जा रहा है बल्कि परंपरा और अतीत के समावेशन के साथ उसकी पुनर्रचना भी की जा रही है। जैसा कि कांदियोति ने दर्शाया है, 'जहाँ कहीं महिलाएँ विभिन्न राष्ट्रीय, नृजातीय और धार्मिक समूहों के बीच सीमा निर्धारकों के रूप में काम कर रही हैं वहाँ परिपूर्ण नागरिकों के रूप में उनका उदय ख़तरे में पड़ जाएगा' (कांदियोति, 1991, पृष्ठ 435)। दिल्ली में यह तनाव किस तरह फलीभूत हुआ, यह देखने से पहले एक व्यापक भारतीय संदर्भ को सारांश रूप में पेश करना बेहतर होगा।

उन्नीसवीं सदी के भारत में ब्रिटिश शासक ही एकमात्र समूह नहीं थे जो 'आधुनिकीकरण की हिमायती व्यवस्था' को बढ़ावा दे रहे थे फलस्वरूप, जेंडर और सेक्शुऑलिटी की अवधारणाओं से भी वह अकेले ही नहीं जूझ रहे थे। तनिका सरकार (1998) ने इस बात के दस्तावेज़ी सबूत इकट्ठा किए हैं कि किस तरह उन्नीसवीं सदी के मध्य में हिंदू मध्यवर्ग परंपरागत एवं उच्च साक्षर वर्गों के बीच से निकला था और उसने जातिगत एवं लैंगिक समीकरणों को मोटे तौर पर यथावत बने रहने दिया। यह समीकरण महिलाओं के व्यवहार से संबंधित ब्राह्मणवादी सोच पर आधारित थे। इस व्यवहार में विधवा विवाह निषिद्ध था, महिलाओं की यौन शुचिता सबसे महत्वपूर्ण थी और अकसरहाँ उसमें पर्दे की परंपरा क़ायम थी (जिसका मक़सद आमतौर पर महिलाओं को घर तक सीमित रखना था)। पर्दे की यह प्रथा उत्तरी भारत के उच्च एवं उच्च मध्यवर्गीय लोगों में ज़्यादा प्रचलित थी।

1870 के दशक के बाद ब्रिटिश और भारतीय सुधारकों ने कुछ ख़ास परंपराओं को चुनौती देते हुए इन लैंगिक संबंधों पर प्रहार करना शुरू कर दिया। हालाँकि उनका सबसे तीखा हमला तो सती पर ही था परंतु उन्होंने घरेलू वातावरण पर भी कई सवाल खड़े किए। जब यह सुझाव दिया गया कि घर में मातहती की बजाय 'साहचर्य विवाह' को प्राथमिकता दी जानी चाहिए तो हिंदू महिला के स्वभाव को लेकर एक नई बहस खड़ी हो गई। दीपेश चक्रबर्ती (1994) ने दिखाया है कि यह बहस निजी और घरेलू को सामुदायिक और सार्वजनिक से अलग करने की बहस भी थी। ग़ौरतलब है कि यह विभाजन स्पष्टतया औपनिवेशिक विभाजन था जो सरकार की प्रशासनिक योजनाओं के ज़रिए ऐसे जनक्षेत्र या नागर समाज की रचना के उद्देश्य से प्रेरित था, जिसमें सुधारों को अंजाम दिया जाएगा और वह उस निजी क्षेत्र से भिन्न होगा जिसमें परंपरागत भारत सुरक्षित रहेगा। परंपरागत भारत के

इस क्षेत्र को बनाए रखने की कोशिश में स्वयं घरेलू परंपरा की भी पुनर्रचना हुई। ग्रेवाल का कहना है कि जनक्षेत्र की अवधारणा के आयात के साथ निजी क्षेत्र यानी घर की अवधारणा भी आयीः 'भारतीयों के लिए औपनिवेशिक विमर्श में जिस चीज़ को हरम कहा जाता था, जो एक अपारदर्शी क्षेत्र था, वही घर बन गया। यह एक पुनर्रचित विक्टोरियाई परिधि थी जो उन नैतिक गुणों की अभिव्यक्ति के रूप में पारदर्शी थी, जिनका वहन प्रतीकात्मक रूप से भारतीय मध्यवर्गीय महिलाएँ करती थीं।' (ग्रेवाल, 1996, पृष्ठ 25)

इस घर और उसमें मर्यादित स्त्री को मोटे तौर पर पुरुषों के बीच होने वाली बहसों के ज़रिए रचा गया था। महिला के बारे में इस तरह बात की जाती थी जैसे वह सुधार की वस्तु हो। सामुदायिक परिधि और स्त्री की पहचान जेंडर और सेक्शुऍलिटी पर होने वाली चर्चाओं के ज़रिए निर्धारित हुई। इनमें यह सवाल उठाया गया कि स्त्री की इज़्ज़त पर ध्यान केंद्रित किया जाए या सांस्कृतिक और जैविक प्रजनन पर। इनमें से एक केंद्रीय बहस इस सवाल के इर्द-गिर्द घूमती थी : एक ऐसी आधुनिक राष्ट्रीय संस्कृति की रचना कैसे की जाए जो पश्चिमी न हो? पार्थ चटर्जी का कहना है कि निजी और सार्वजनिक परिक्षेत्र, घर और दुनिया के बारे में होने वाली चर्चाओं ने इस सवाल की महिला-मुक्तिदायी संभावनाओं को पहले ही बंद कर दिया था।

चटर्जी (1989, पृष्ठ 238) का कहना है कि इस सवाल पर अकसर जो प्रतिक्रिया आती थी उसमें अन्ततः महत्वहीन बाहरी और भौतिक दायरे तथा आंतरिक और आध्यात्मिक दायरे के बीच फ़र्क़ चिन्हित किया जाता था। इसमें पहला दायरा अन्ततः महत्वहीन जबकि दूसरा 'बुनियादी रूप से अत्यावश्यक' था। बाहरी दायरे का आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण किया जा सकता था और उसे धर्मनिरपेक्ष बनाया जा सकता था जबकि भीतरी दायरा लाज़िमी तौर पर परंपरानिष्ठ, विशुद्ध और भारतीय होना था। इसके बाद उन्होंने तर्क दिया है कि जब आप 'रोज़-ब-रोज़ के ठोस मामलों में भीतरी/बाहरी विभेद' को लागू करते हैं तो 'आप सामाजिक परिधि को घर और बाहर, घर और दुनिया के बीच बाँट देते हैं। दुनिया बाहरी है — भौतिक जगत का दायरा; जबकि घर आध्यात्मिक स्वत्व — हमारी असली पहचान का प्रतिनिधित्व करता है' (चटर्जी, 1989, पृष्ठ 238)। सामाजिक दायरे के लैंगिक विभाजन के भीतर इसका आशय यह था कि महिलाओं और घर की रक्षा की जानी चाहिए, उसे यथावत रखा जाना चाहिए जबकि पुरुष और बाहरी दुनिया आगे बढ़ने के लिए, प्रगति करने के लिए स्वतंत्र हैं। हालाँकि चटर्जी ने इस पर विचार नहीं किया है परंतु ये विभाजन हिंदुओं की दुनिया के बाहर भी मौजूद थे। लतीफ़ (1990, पृष्ठ 80) की टिप्पणी है, "मुस्लिम महिलाओं पर दोहरे दबाव तत्काल दिखाई देते थे। जब महिलाओं की शिक्षा और सार्वजनिक मामलों में हिस्सेदारी का संदेश दिया गया तो उसके साथ ही सामुदायिक समरसता बनाए रखने के लिए परंपराओं की दुहाई भी दी गई।"

महिलाओं और परंपराओं के इस 'संरक्षण' ने बदलाव की प्रक्रिया को बंद नहीं किया। बल्कि नए मध्यवर्ग के भीतर एक नई पितृसत्ता की पूरक के तौर पर एक 'नई स्त्री' को भी जहाँ-तहाँ अभिव्यक्ति मिलने लगी (चटर्जी, 1993, पृष्ठ 127)। इस नई स्त्री के अनुरूप आधुनिकता के तत्वों को भी सावधानीपूर्वक चुना गया। उसके लिए गृह विज्ञान में शिक्षा का प्रावधान किया गया, उसे राष्ट्रवादी और धार्मिक पुस्तकें पढ़ने लायक़ साक्षरता से लैस करने की बात कही गई तथा उसे इस योग्य बनाने पर ज़ोर दिया गया कि वह बाहरी परिस्थितियों के मुताबिक़ घर चलाने में सक्षम हो। यहाँ तक कि अगर वह अपने पहनावे, आदतों और खानपान में आध्यात्मिकता व अनुशासन बनाए रख सके तो उसे घर के बाहर घूमने-फिरने की भी छूट थी (चटर्जी, 1993, पष्ठ 130)।

चटर्जी ने यह भी दिखाया है कि महिलाओं ने अपनी अधीनता के विरुद्ध किस प्रकार संघर्ष किया। इसके लिए उन्होंने पाँच आत्मकथाओं का विश्लेषण करते हुए बताया है कि महिलाओं ने बदलावों का किस तरह मुक़ाबला किया और घर में रहते हुए किस तरह का योगदान दिया (चटर्जी, 1993, पष्ठ 135-147)। परंतु वह भी इस निष्कर्ष से आगे नहीं आते कि राष्ट्रवादी मुक्ति का आश्वासन अंततः 'विश्वासघात' में हुआ (चटर्जी, 1993, पृष्ठ 154)। बहिष्कार के बाद नवरचित राष्ट्र में उन्हें दीगर प्रतिनिधित्वहीन तबक़ों की तरह प्रतिनिधित्व तो मिल गया लेकिन सांस्कृतिक राष्ट्र में वे बहिष्कृत ही रहीं।

गांधी और महिलाएँ

महिलाओं और राजनीतिक गतिविधियों के बारे में गांधी की विचारधारा और लेखन में एक क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है (कस्तूरी व मजुमदार, 1994; कुमार, 1994; मेनन, 1999)। चटर्जी का तर्क है कि इस दौर में महिलाओं को दोबारा अधीन बनाने की कोशिशें की गईं। इसके विपरीत गांधी की वह राष्ट्रवादी छवि सामने आती है जिसमें वह महिलाओं को घर से बाहर निकल कर ब्रिटिश शासन के ख़िलाफ़ सड़कों पर उतरने के लिए प्रेरित करते हैं। गांधी ने स्त्री को परम बलिदान और असीम प्रेम की मूर्ति माना (कुमार, 1993, पृष्ठ 82) और उन्हें राजनीतिक रूप से सक्रिय होने के लिए प्रोत्साहित किया (महान, 1999)। परंतु गांधी ने महिलाओं को अपने हिसाब से एक ख़ास छवि में गढ़ने की कोशिश भी की। इसके लिए उन्होंने ऐसे मूलवादी वक्तव्यों का सहारा लिया जिनमें 'ऐसे वैधता देने वाले तत्व निहित थे जिन्होंने स्त्रीत्व और स्त्रैणता की उन अवधारणाओं को परिभाषित किया जो महिला की निर्मिति में निर्धारक तत्व' थे (पटेल, 1988, पृष्ठ 378)। फ़ॉक्स (1996) का कहना है कि हालाँकि गांधी का लेखन एक और 'दमनकारी शासन व्यवस्था' का प्रतिनिधित्व नहीं था फिर भी उसमें घरेलू परिधि की पितृसत्तात्मक रूपरेखा को उलटने की कोशिश नहीं की गई।

जहाँ एक तरफ़ गांधी ने महिलाओं की भूमिका पर ज़ोर दिया वहीं दूसरी तरफ़ उन्होंने इस बात पर भी ज़ोर दिया, ख़ासतौर से अपने शुरुआती लेखन और भाषणों में, कि महिलाओं का 'नैसर्गिक' दायरा उनका घर ही है। इसलिए उन्होंने पतियों को हिदायत दी कि 'अपनी महिलाओं को काम पर मत भेजो; उनके मान की रक्षा करो। अगर तुम्हारे अंदर ज़रा सी भी मर्दानगी है तो यह तुम्हारी ज़िम्मेदारी बनती है कि तुम ध्यान रखो कि कोई उन पर ग़लत नज़र न डाल पाए' (गांधी, 1920, पृष्ठ 43-44)। इस तर्क की एकांगिकता को दूर करने के लिए घर को एक ऐसे राजनीतिक दायरे के रूप में चिन्हित किया गया जहाँ रहकर भी महिलाएँ सक्रिय रह सकती थीं (थापर-योरकर्ट, 1997, पृष्ठ 494)। महिलाओं और घर को लक्ष्य करने के लिए गांधी ने बुनियादी रूप से खादी का सहारा लिया। बीसवीं सदी के पहले दशक में चले स्वदेशी आंदोलन में भी इस प्रतीक का राजनीतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जा चुका था। गांधी ने स्वदेशी के सूत्र को पकड़ा और उसे स्त्रियों के धर्म में एकीकृत कर दिया। ऐसा करके गांधी ने घर और स्त्री, दोनों को एक साथ नई छवि देने की कोशिश की। जैसा कि किश्वर (1986, पृष्ठ 5) ने कहा है, 'चरख़ा चलाने और खादी पहनने के पक्ष में गांधी के अथक प्रचार का मक़सद हर घर, हर दुर्गम गाँव तक में राष्ट्रवाद और स्वतंत्रता की भावनाओं को प्रवाहित करना था। इस तरह औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष जैसे अमूर्त राजनीतिक विचार भी आम लोगों के लिए ठोस बन गए।'

कताई के साथ-साथ घर में महिलाओं की दूसरी ज़िम्मेदारियाँ भी थीं। उन्हें ज़िम्मेदारी सौंपी गई कि वह अपने बच्चों को भारतीयता पर गर्व करना सिखाएँ और बाहरी दुनिया के झमेलों से त्रस्त होकर लौटे पति को घर में एक पुरसुकून माहौल दें। बीस के दशक में गांधी महिलाओं की ख़ासतौर से मुश्किल ज़िंदगी पर सवाल खड़ा करने लगे और उन्होंने इस बात पर उतना ज़ोर नहीं दिया कि वह भी ब्रिटिश शासन के उत्पीड़न की शिकार हैं। अस्पृश्यता, सती और विधवाओं की दुर्दशा के ख़िलाफ़ चलाए गए अपने 'रचनात्मक' कार्यक्रमों के साथ-साथ उन्होंने पर्दे पर भी हमला बोल दिया। 'पर्दे को फाड़ डालो' शीर्षक एक लेख में गांधी (1927, पृष्ठ 149-150) ने दावा किया कि यौन-शुचिता की 'रक्षा पर्दे की दीवार खड़ी करके नहीं की जा सकती। यह भावना भीतर से

पैदा होनी चाहिए और स्त्री में इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वह हर संभव अनाछूत लोभ का संवरण कर सके।' इसके बावजूद गांधी इस बात पर ज़ोर देते रहे कि महिलाओं का सही स्थान उनका घर ही है। उन्होंने महिलाओं को 'घर की रानी' का ख़िताब तक दे दिया (गांधी, 1928 क, पृष्ठ 195)। जैसा कि बॉल्ड (2000, पृष्ठ 82) का सुझाव है, यह तथ्य इस बात का संकेत नहीं देता कि स्वतंत्रता के लिए गांधी की चिंता में महिलाएँ महत्वपूर्ण नहीं थी, बल्कि यह तथ्य इस बात का प्रतिनिधित्व करता है कि गांधी महिला शक्ति की ज़रूरत और उभरती 'नई पितृसत्ता' के पीछे निहित जबरिया माँगों के बीच एक संतुलन क़ायम करने की कोशिश कर रहे थे।

1930 में सिविल नाफ़रमानी आंदोलन की शुरुआत में महिलाओं को दांडी मार्च[2] में शामिल होने से हतोत्साहित किया जाने लगा परंतु अंततः मान लिया गया कि उनका कल्पित धैर्य उन्हें शराब और विदेशी कपड़ों के व्यापारियों से लोहा लेने के लिए ज़्यादा तपा चुका है (पटेल, 1988, पृष्ठ 379)। इन्हीं निषेधाज्ञाओं से महिलाएँ बाहरी दुनिया के साथ अनुभवों का एक वैध दावा करने लगीं और कुछ ही समय के भीतर समुदाय या शहर के स्तर पर होने वाले जलसे-जुलूसों में महिलाओं की मौजूदगी एक अनिवार्य हिस्सा बन गई। इसके बावजूद सार्वजनिक दायरे में महिलाओं की बढ़ती भूमिका का श्रेय सिर्फ़ गांधी को नहीं दिया जा सकता। इस मामले में पत्रिकाओं (ओरसीनी, 2002), शिक्षा (हैन्कॉक, 2001), स्थानीय कॉङ्ग्रेस कमेटियों और महिला संगठनों (बसु व रे, 1990) के महत्व को भी कम करके नहीं आँका जा सकता। 1942 के आंदोलन तक कुछ महिलाएँ न केवल खादी की कताई और सार्वजनिक आंदोलन में सक्रिय थीं बल्कि वह भूमिगत आंदोलनों, समानान्तर सरकारों और दीगर 'ग़ैरक़ानूनी गतिविधियों' में भी लगी हुई थीं (कुमार, 1993, पृष्ठ 93)।

हालाँकि महिलाओं के बारे में गांधी के लेखन और महिला प्रश्न पर चटर्जी की व्याख्या, दोनों में ही महिलाओं को एक हद तक घर के दायरे में बाँधने की कोशिश की गई है फिर भी समाज में महिलाओं की स्थिति के सवाल पर दोनों का नज़रिया बुनियादी रूप से अलग है। गांधी लगातार पर्दे को फाड़ फेंकने की वकालत करते हैं। परंतु उनकी नज़र में यह एक ऐसी चीज़ थी जो महिलाओं के आत्मविश्वास और प्रतिष्ठा को ढँकता था न कि उन्हें घर के दायरे में क़ैद रखने का काम करता था। आशिस नंदी (1983) ने दर्शाया है कि औपनिवेशिक परियोजना की सफलता इस बात में निहित थी कि ग़ुलाम जनता भौगोलिक विजय को मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी आत्मसात कर चुकी थी। परंतु ऐसी ही प्रक्रिया देसियों के अंदर भी घटीः

> आक्रमणकारी पुरुष के साथ खड़े होकर खुद अपने ख़िलाफ़ ही मनोवैज्ञानिक रक्षा का यह क्लासिक उदाहरण इस बात की ओर ध्यान खींचता है कि कुछ सामाजिक संस्थानों ने किस प्रकार स्त्री को खुद ही अपनी निजी दुर्दशा और अंततः अतिक्रमण में साझीदार बना दिया है। कहा जा सकता है कि महिलाओं के लिए दमनकारी यथार्थ केवल आंशिक रूप से ही उनके बाहर है। इस यथार्थ का यह हिस्सा सामाजिक शिक्षण की एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया के ज़रिए उनके भीतर समाविष्ट हो चुका है। (नंदी, 1990, पृष्ठ 149)

महिलाएँ उपनिवेशवाद और पितृसत्ता की दमनकारी संरचनाओं के ज़रिए केवल दोहरे स्तर पर ही चुप नहीं कराई जा रही थीं। उन्हें खुद को भी चुप कराना था। गांधी ने इसी आत्मसंयम को निशाना बनाकर भारतीयों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया कि वह एक ऐसा स्वत्व गढ़ें जिसमें शर्म का अंश न हो और उन्होंने महिलाओं के घरेलू स्त्रीत्व को बेपर्दा देखने के लिए प्रेरित किया। अगर सामाजिक भूगोल के नज़रिए से देखें तो महिलाओं के बारे में गांधी के प्रत्यक्षतः अंतर्विरोधी सारतत्ववादी वक्तव्यों में भी एक तुक दिखाई देती हैः वह घर के भीतर श्रेष्ठ थी परंतु बाहर के ज़्यादातर कामों के लिए उपयुक्त नहीं थी; महिलाओं को पर्दे के बाहर आने का साहस जुटाना था परंतु उनकी जगह घर के भीतर ही थी; महिलाओं को रचनात्मक ढंग से प्रयास करते हुए अपने घरेलू जीवन को पुनर्व्यवस्थित करना था परंतु फिर भी उन्हें राजनीतिक-सार्वजनिक गतिविधियों के बारे में गांधी के निर्देशों का पालन करना था। मेरा तर्क है कि यह विरोधाभास ही महिलाओं के विषय में गांधी की दृष्टि की आंशिक सफलता की कुंजी था। कांदियोति (2000) के अनुसार इसमें महिलाओं के राष्ट्रवाद का प्रतिनिधि और उसमें सहभागी होने के बीच का तनाव अभिव्यक्त हो रहा है। सामाजिक रूप से सीमित सक्रियता की इस अवधारणा

को पुरुषों का भी समर्थन मिला क्योंकि उन्हें इस तरह राजनीतिक कार्यशक्ति को बढ़ाने और भारतीय राष्ट्रवादियों के इस दावे को सहारा देने में मदद मिली कि वह अपने पारिवारिक जीवन की सुरक्षा को ख़तरा पहुँचाए बिना सभ्यतापूर्ण व्यवहार कर सकते हैं। परंतु स्त्री की भूमिका के इर्द-गिर्द इस विरोधाभास ने जो अनिश्चितता पैदा कर दी उसका चटर्जी के तर्क के मुताबिक़ पुरुष दुरुपयोग कर सकते थे या महिलाएँ एक अपेक्षाकृत कम विधेयात्मक, राष्ट्रवादी व्यवस्था के लिए उसका परित्याग कर सकती थीं। घरेलू स्तर की जाँच के लिए साक्षात्कारों के विश्लेषण में महिलाओं और 'घर' पर केंद्रित साहित्य पर खास ढंग से चर्चा की गई है। दिल्ली में महिलाओं ने घर से किस तरह का रिश्ता बनाया, इस पर नज़र डालने की बजाय पहले इस क्षेत्र के राजनीतिक-सांस्कृतिक परिवेश की संक्षेप में चर्चा करना ज़रूरी है।

दिल्ली और महिलाएँ

अपने शक्तिशाली औपनिवेशिक प्रभाव और बदलते मध्यवर्ग वाले कोलकाता के विपरीत दिल्ली परंपरा और रीति-रिवाजों का शाही शहर था। 1803 तक दिल्ली ब्रिटिश शासन से मुक्त रही और 1857 के 'सिपाही विद्रोह' के बाद उसका औपनिवेशिक तर्ज़ पर व्यवस्थित ढंग से पुनर्गठन हुआ। दिल्ली मुग़ल बादशाहों के प्रभाव में रही जो उन्नीसवीं सदी के मध्य तक नाम के लिए ही सही परंतु गद्दी पर मौजूद थे। इस पूरे इलाक़े के मध्य एवं उच्च मध्यवर्गीय परिवारों की महिलाओं के लिए पर्दे की सख़्त रिवायत थी हालाँकि ग़रीबों के लिए यह एक महँगा सौदा था कि एक कमाऊ सदस्य घर में निष्क्रिय बैठा रहे (जेफ़्री, 1979; रहेजा व गोल्ड, 1994)। दिल्ली नगरपालिका इलाक़े की ज़्यादातर मुस्लिम महिलाओं के बीच पर्दे का चलन ख़ासतौर से ज़्यादा मज़बूत था (लतीफ़, 1990, पृष्ठ 203)। इस इलाक़े में मुसलमान महिलाओं की संख्या 1931 में 66,451, और 1941 में 1,00,816 थी हालाँकि महिलाओं की यह संख्या इन दोनों सालों में कुल आबादी का 19 प्रतिशत तथा महिलाओं की कुल आबादी का 46 प्रतिशत ही थी।[3] हालात के अनुसार खुद को ढाल लेने की महिलाओं की इस क्षमता के बावजूद बीस के दशक के अंत तक यह तथ्य अपनी जगह क़ायम था कि बहुत सारी महिलाएँ पढ़ी-लिखी नहीं थीं और उन्हें बाहरी दुनिया के बारे में ख़ास पता नहीं था।

दिल्ली लैंगिक सुधारों पर चलने वाली व्यापक बहस में ही पीछे नहीं रही। 1850 के दशक में हुई राजनीतिक उथल-पुथल के बाद कठोर दमन किया गया फिर भी बीसवीं सदी के पहले दशक की शुरुआत तक दिल्ली को बंगाल और देश के दूसरे शहरी केंद्रों के मुक़ाबले बहुत अशांत जगह नहीं माना जाता था। इस सामान्य पृष्ठभूमि में सार्वजनिक-राजनीतिक दायरे में महिलाओं की मौजूदगी सकते में डालने वाली थी। इस मौजूदगी का ब्योरा नीचे उल्लिखित अख़बारों, सरकारी रिपोर्टों और राष्ट्रवादी आत्ममूल्याँकनों में मिलता है। जैसा कि फ़ोर्ब्स (1996, पृष्ठ 141) की टिप्पणी है, जब तीस के दशक में महिलाएँ पहली बार विरोध के लिए घर से बाहर निकलीं तो दिल्ली में न केवल इसलिए उनकी तरफ़ ध्यान आकर्षित हुआ कि उनकी संख्या बहुत ज़्यादा थी बल्कि इसलिए भी क्योंकि सामान्य रूप से सड़कों पर उनका देखा जाना ही दुर्लभ था। यह एक अनोखी बात थी। घर के भीतर उनकी गतिविधियों की जाँच दिल्ली में महिलाओं की सार्वजनिक-राजनीतिक गतिविधियों के एक छोटे से सारांश के बाद की जाएगी।

1930 के सिविल नाफ़रमानी आंदोलन के दौरान दिल्ली की महिलाओं ने न केवल शहरी परिधि के लिहाज़ से बल्कि राजनीति एवं मीडिया की परिधि के लिहाज़ से भी सार्वजनिक परिक्षेत्र पर एक सफल चढ़ाई शुरू कर दी। जून 1931 में इंग्लैंड के *गार्डियन* अख़बार में मेरी कैम्पबेल ने इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया कि दिल्ली की गांधी के आह्वान पर महिलाएँ 'शराब और नशीले द्रव्यों की दुकानों' को घेरने के लिए सड़कों पर उतर आई हैं। उन्होंने लिखा, 'मुझे लगता था कि इस बार उन्होंने (गांधी ने) ग़लती कर दी है क्योंकि दिल्ली की महिलाएँ, जिनमें से इतनी सारी तो पर्दे में रहती हैं, इस काम को कभी अंजाम नहीं दे पाएँगी। परंतु उस समय मेरी हैरत का ठिकाना न रहा जब मैंने देखा कि न केवल वह सड़कों पर निकल आई हैं बल्कि उन्होंने दिल्ली की तमाम दुकानों के सामने धरना डाल दिया है' (बाला, 1986, पृष्ठ 24-25 में उद्धृत)। दिल्ली से छपने वाले और स्थानीय ख़बरों को जगह देने वाले *हिंदुस्तान टाइम्स* के पन्ने राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के रूप में महिलाओं

और उनकी नई भूमिका से संबंधित चित्रों व लेखों से भरे रहते थे। महिलाओं ने शराब की दुकानों और विदेशी कपड़ों के ख़िलाफ़ आंदोलन में तो हिस्सा लिया ही, वह पूरे शहर में हो रहे अनौपचारिक राष्ट्रगान, ध्वजारोहण और जुलूसों में भी बाक़ायदा मौजूद रहती थीं।

6 मार्च 1930 को न्यायालयों का घेराव करने के लिए निकाले गए एक ऐसे ही जुलूस पर लाठीचार्ज किया गया।[4] परंतु स्थानीय प्रशासन की ओर से केंद्र सरकार को भेजी गई राजनीतिक रिपोर्ट में इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि महिलाओं को 'हिफ़ाज़त से सुरक्षित जगह ले जाया गया।'[5] 6 जून 1930 को एक रिपोर्ट में लिखा गया कि 'इस पखवाड़े का एक दिलचस्प, परंतु परेशान करने वाला पहलू यह था कि महिलाओं ने क्रांतिकारी नारे लगते हुए और राष्ट्रीय झंडा हाथ में लेकर जुलूस निकाला...। प्रशासन के हस्तक्षेप से बचने के लिए ये महिलाएँ अपनी लैंगिक पहचान पर आश्रित हैं और उनका तरीक़ा बड़ा शरारती होता है।'[6] सिविल नाफ़रमानी आंदोलन की बाक़ी अवधि में कुछ बड़े आंदोलनों का उल्लेख किया गया जिनमें महिलाओं की उल्लेखनीय मौजूदगी का ज़िक्र नहीं था। तीस के पूरे दशक में महिलाएँ सार्वजनिक परिक्षेत्र की गतिविधियों में लगातार सक्रिय रहीं और उन्होंने 1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन में भी एक अहम भूमिका अदा की। प्रमुख सार्वजनिक जुलूसों के अलावा, दिल्ली ज़िला कॉङ्ग्रेस कमेटी ने 15 मई 1930 को अखिल भारतीय कॉङ्ग्रेस कमेटी को रिपोर्ट भेजी जिसमें लिखा था कि 'विदेशी कपड़ों के बहिष्कार के लिए चलाई गई मुहिम की सफलता का एकमात्र कारण यह था कि महिलाओं ने भारी निजी असुविधा के बावजूद दुकानों की पिकेटिंग में कोई कसर नहीं उठा रखी थी।'[7]

इन घटनाओं का ज़िक्र दिल्ली में राष्ट्रवादी आंदोलन में महिलाओं के योगदान के परंपरागत ब्योरों में भी दिखाई देता हैं। परंतु सड़कों पर निकलने का साहस करने वाली कुछ महिलाओं की जीवनी का विश्लेषण करने पर सार्वजनिक और निजी के बीच की सरहद धुंधली पड़ने लगती है और 'राजनीतिक' कृत्य के बारे में पुनर्विचार

की आवश्यकता पैदा हो जाती है। मुझे राष्ट्रवादी आंदोलन के जो ब्योरे मिले उनमें गांधी के प्रभाव और ऐसी महिलाओं की उदात्त भावनाओं की भरमार थी जिन्होंने उन सार्वजनिक-निजी सीमाओं का उल्लंघन किया जिनमें वह अब तक बँधी हुई थीं। इन ब्योरों में एक ब्योरा सरला शर्मा[8] का भी था जिनकी माँ ने बीस के दशक में चाँदनी चौक की गलियों में उन लोगों को धिक्कारा जो महिलाओं के सड़कों पर आने को लेकर उन्हें 'कोसते' थे। उन्होंने इन पुरुषों से सवाल किया कि आख़िर वह सड़क पर क्यों नहीं आ सकतीं। श्रीमती एन. चक्रवर्ती[9] ने इंद्रप्रस्थ महाविद्यालय की छात्राओं के बारे में बताया जो 1942 में महाविद्यालय के पास से गुज़रते छात्रों के जुलूस में शामिल होने के लिए दौड़ कर परिसर को पार करते हुए दीवार फाँद कर निकल जाती थीं। जबकि सुभद्रा जोशी[10] ने बताया कि किस तरह वह डॉक्टरों की तमाम चेतावनियों के बावजूद एक ट्रेड यूनियन संघर्ष में दख़ल देने के लिए स्थानीय अस्पताल से ग़ायब हो गई थीं।

परंतु सड़कों पर शारीरिक मौजूदगी को हर स्थिति में किसी राजनीतिक क्रिया के बराबर नहीं माना जा सकता है। इस तरह की महिलाओं के साहस को रेखांकित करते हुए भी अकसर बाहर की बजाय घर के भीतर राजनीतिक गतिविधि के साक्ष्य ज़्यादा मिल सकते हैं। इस तरह के मुद्दे डॉक्टर गुणमाले नौलखा के साथ बातचीत में उठाए गए, जिनके पिता फूलचंद जैन (1907-2000) दिल्ली के एक जाने-माने राजनीतिक कार्यकर्त्ता थे।[11] 1932 में डॉक्टर नौलखा की माँ से उनके पति ने कहा कि क्या वह सिविल नाफ़रमानी आंदोलन में हिस्सेदारी के लिए तैयार हैं। इस पर उन्होंने ख़ुद को तैयार किया और फूलचंद जैन उन्हें एक स्थानीय कॉङ्ग्रेसी कार्यकर्त्ता के पास लेकर गए जो राजनीतिक स्वयंसेवकों को संगठित करते थे। डॉक्टर नौलखा को याद पड़ता है कि ऐसे मौक़े पर उनकी माँ और उनकी दादी के बीच किस तरह का टकराव खड़ा होता थाः 'मेरी दादी इतनी खफ़ा थीं, इतनी खफ़ा थीं, कि उन्होंने मेरी माँ को धकेलकर दीवाल से सटा दिया। उन्होंने मारपीट तो नहीं की पर इतना ज़रूर कहा, 'तुम कर क्या रही हो? घर से बाहर जा रही हो तुम? और तुम ये खादी की साड़ी भी पहनने लगी? नहीं, नहीं, अब तुम कहीं नहीं जाओगी, सीधे रसोई में जाओ, और काम में लगो। हाँ, तुम्हारे ननदोई जाकर ये पिकेटबाज़ी कर सकते हैं मगर तुम नहीं, हरगिज़ नहीं'। घर में उस समय तो और भी हंगामा मचा जब फूलचंद की पत्नी इसके बाद भी घर से बाहर जाती रहीं और आख़िर 6 फरवरी 1932 को वह गिरफ़्तार कर ली गईं।

जैसा कि उपरोक्त उद्धरण से पता चलता है, इस सदमे का एक हिस्सा औरतों द्वारा घर में कते सूत की साड़ी पहनने से जुड़ा हुआ था। जैसा कि गांधी ने कहा था, यह एक राजनीतिक कृत्य था। एक ऐसा कृत्य जिसे जब-तब की बजाय हर रोज़ दोहराया जाना था। इस तरह उन्होंने एक लैंगिक और राष्ट्रीयकृत मानसिकता का निर्माण किया। फूलचंद जैन की पत्नी ने रेशम के कपड़े और चाँदी के गहने पहनना बंद करके काफ़ी समय से खादी की ब्लाउज़ और साड़ी पहनना शुरू कर दिया था। जैसा कि उनकी बेटी ने साक्षात्कार में कहा, इस तरह के उच्चवर्गीय परिवार के लिए 'यह एक इंक़लाब था!...'। ख़ूबसूरती की पूरी अवधारणा बदल गई थी। अब ख़ूबसूरती का मतलब महँगे सूती और रेशमी कपड़े पहनना नहीं था बल्कि अब सुंदरता इसमें थी कि वह खादी का इस्तेमाल कर रही थी और अपनी आंतरिक शक्ति और सौंदर्य के कारण अभी भी सुंदर थी। ये एक हैरतअंगेज़ बात थी। जेल से रिहा होने के बाद डॉक्टर नौलखा की माँ कभी भी सार्वजनिक रूप से दोबारा सक्रिय नहीं हो पाईं परंतु घर में वह फिर भी खादी ही पहनती रहीं।

हालाँकि घर छोड़ने की बहादुरी को कमतर करके न आँकते हुए भी इस उपरोक्त उदाहरण से पता चलता है कि कई बार बाहर की बजाय घर के भीतर 'राजनीतिक' गतिविधि का साक्ष्य ज़्यादा स्पष्ट हो सकता था। अपने पति के संरक्षण में घर छोड़ कर किसी राजनीतिक कार्यकर्त्ता के निर्देशों का पालन शुरू कर देना निश्चय ही साहस का काम था। अपनी दिनचर्या को बदलने और घर के लोगों के साथ रोज़-रोज़ झगड़ा मोल लेने के लिए एक गहरे संकल्प और प्रतिबद्धता की ज़रूरत थी। जो महिलाएँ सड़क पर दावेदारी जता रही थीं उनकी मदद के लिए घर पर सहायक भूमिका निभाने वाली बहुतायत महिलाओं का होना भी ज़रूरी था।

महिलाएँ और घर

एक राजनीतिक संदर्भ में घर के साथ महिलाओं के रिश्ते को यहाँ हम आपस में जुड़े हुए दो समूहों के बीच बाँट कर देखेंगे। पहली श्रेणी में जाने-माने पुरुष राजनीतिज्ञों के घर हैं जबकि दूसरी श्रेणी में आम लोगों के घर हैं जो ख़ुद को लाज़िमी तौर पर राजनीतिक कार्यकर्त्ता के रूप में पेश नहीं कर सकते थे। जिन महिलाओं का नाम सड़कों पर अपनी गतिविधियों के उल्लेख के बिना भी राष्ट्रवादी अभिलेखागारों तक पहुँच गया है, वह जाने-माने राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की पत्नियाँ थीं। ख़ासतौर से जनवरी 1932 में कॉङ्ग्रेस समितियों को ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिए जाने के बाद[12] दिल्ली के राजनीतिक मुख्यालयों का ठिकाना स्थायी नहीं रहा और वह उच्चस्तरीय कॉङ्ग्रेसी नेताओं के घरों में ही घूमने लगा था।

राजनीतिक घर

दिल्ली के राजनीतिक घरों में एक घर डॉ. एम. ए. अंसारी (1880-1936) का था। डॉ. अंसारी दिल्ली में कॉङ्ग्रेस से जुड़े एक प्रमुख मुस्लिम राजनेता थे। उनकी पत्नी, शम्सुन्निसा (बेगम अंसारी[13]) ने तुर्की में युरोप की युद्धोत्तर नीति के ख़िलाफ़ दिल्ली ख़िलाफ़त कमेटी में काम किया था (हसन, 1995, पृष्ठ 15) और उन्हें 1920 के दशक में दिल्ली की राजनीतिक रूप से सक्रिय चंद मुस्लिम महिलाओं में गिना जाता है (महान, 1999, पृष्ठ 171)। अंसारी जब युरोप की यात्रा पर जाते थे तो शम्सुन्निसा घर चलाती थीं और उर्दू लिखना सीखती थीं। उर्दू के इस अभ्यास का एक मक़सद घरेलू ख़र्चों का हिसाब रखना था। जब उनके पति वापस लौट आते तो वह घर को तरतीब में रखने और कॉङ्ग्रेसी मेहमानों की ख़ातिर-तवज्जो का काम करती थीं। जैसा कि हसन ने कहा है, 'हालाँकि वह अपने समय और हैसियत की महिलाओं से अपेक्षित घरेलू भूमिका का ही निर्वाह कर रही थीं फिर भी अपने पति के राजनीतिक कॅरियर से शम्सुन्निसा को अपनी रुचियों को अभिव्यक्त करने और ऊर्जाओं को दिशा देने का एक अच्छा ज़रिया मिला' (हसन, 1995, पृष्ठ 15)।

अपने मेहमानों की ख़ातिरदारी के लिए शम्सुन्निसा मुस्लिम, शाकाहारी और युरोपीय, तीनों तरह के बावर्चीख़ाने रखती थीं। इसके बावजूद, जैसा कि अंसारी की दत्तक पुत्री ज़ोहरा ने बाद में कहा, 'वह एक बेहतरीन मेज़बान और घर चलाने में माहिर महिला थीं परंतु वह इस वजह से कभी बाहर नहीं निकलीं क्योंकि वह पर्दे का सख़्ती से पालन करती थीं। हमेशा नेपथ्य में रहती थीं; चाहे कुछ भी करें, उनकी गतिविधियाँ नेपथ्य का ही हिस्सा होती थीं'।[14] 1912 में अंसारी के मेहमान रहे ई.एम. फ़ॉर्स्टर ने तारीफ़ करते हुए कहा कि 'हमारे मेज़बान की पत्नी — जिसकी क़ाबिले शिनाख़्त मौजूदगी सिगरेटों, सुपारी और ख़ुशबुओं के ज़रिए महसूस होती है कभी सामने नहीं आती' (फ़ॉर्स्टर, 1912, पृष्ठ 147)। गांधी ख़ुद भी 1931 में इर्विन के साथ बातचीत के समय अंसारी के यहाँ ठहरे थे (स्लेड, 1960, पृष्ठ 120) और कुछ दिनों बाद उन्होंने घर के माहौल की तारीफ़ करते हुए लिखा भी था। उन्होंने डॉ. अंसारी के साथ हुई अपनी बातचीत के बारे में लिखा जिसमें घर चलाने की कला के लिए बेगम अंसारी की तारीफ़ की गई थी। सिर्फ़ बावर्चीख़ाना चलाने के लिए ही नहीं बल्कि घर के ख़र्चे-पानी और आम रखरखाव के लिए भी उनकी तारीफ़ की गई (गांधी, 1931)।

महिलाओं के बारे में अपनी नीति की पुनर्रचना करने की प्रक्रिया में, गांधी घर से बाहर के एकमात्र पुरुष थे जिन्हें पर्दे में रहने वाली शम्सुन्निसा से मिलने की इजाज़त मिली थी (एदीब, 1937, पृष्ठ 31)। ऐसा भी तब हो पाया जब उन्होंने डॉ. अंसारी पर ख़ासा दबाव डाला था। 1928 में उन्होंने लिखा कि बेगम अंसारी का दावतनामा क़बूल करने का कोई मतलब नहीं है क्योंकि 'मैं जब तक उनके यहाँ रहता हूँ वह ख़ुद को पर्दे में छिपाए मुझसे दूरी बनाए रखती हैं। अगर वह मुझे अपने घर बुलाना चाहती हैं तो उन्हें अपनी महँगी चूड़ियों और गहनों को बेपर्द करना होगा ताकि मैं उन्हें इस फ़िज़ूलख़र्ची से आज़ादी दिलाकर उन्हें सही दिशा दिखा सकूँ' (गांधी, 1928 ख)। पूरी तरह पर्दे से दूर जाने की एक और कोशिश में वह (बेगम अंसारी) 1934 में बुर्क़ा पहनकर कॉङ्ग्रेस के चुनावों में वोट डालने के लिए घर से बाहर निकलीं परंतु उनके इस क़दम को भी 'परिवार के क़ायदे-क़ानूनों' के तहत एक बेहद प्रगतिशील क़दम माना गया।[15]

शम्सुन्निसा महिलाओं की एक ऐसी शिरकत का प्रतिनिधित्व करती हैं जिसके बिना दिल्ली के ज़्यादातर अहम परिवार कब के बिखर कर तहस-नहस हो जाते। इसके बावजूद शहर के कुछ ही घर ऐसे थे जिनका इतना नाम था और मुट्ठी भर महिलाएँ ही राष्ट्रवादी आंदोलन के आध्यात्मिक नेताओं का प्रत्यक्ष आशीर्वाद प्राप्त कर सकती थीं। जैसा कि बेगम अंसारी की प्रशंसा करने के बाद गांधी ने कहा था, 'ऐसा नहीं है कि हिंदुओं और मुसलमानों में ऐसी सिर्फ़ एक ही औरत है बल्कि हर गली-कूचे में ऐसी अनगिनत महिलाएँ होंगी। हम उन सबके बारे में कुछ नहीं जानते' (गांधी, 1931)।

महिलाओं के घरेलू राजनीतिक श्रम पर आश्रित रहने वाला एक और घर कॉङ्ग्रेस की राजनीति से जुड़े देशबंधु गुप्ता (1901-51) का था। बीस के दशक से ही वह एक स्थानीय अख़बार का संपादन कर रहे थे और तीस व चालीस के दशकों के दौरान दिल्ली कॉङ्ग्रेस के प्रमुख नेताओं में गिने जाते थे। उनके दो बेटे अभी भी दिल्ली में रहते हैं और उनके परिवार की भीतरी गतिविधियों का अंदाज़ा लगाने के लिए हमने उनसे बात की। उन्होंने बताया कि घर के बारे में उनकी सबसे पुरानी यादों में 'इंक़लाब ज़िंदाबाद' के क्रांतिकारी नारे सबसे पहले आते हैं। रमेश बंधु गुप्ता ने बताया कि, 'हालाँकि यह मेरे पिता का घर था परंतु ऐसा लगता था मानो वह कॉङ्ग्रेस का ही घर हो' जबकि विश्वबंधु गुप्ता ने कहा कि 'परिवार की पूरी मनोदशा दिल्ली के स्वतंत्रता संघर्ष और अख़बार से तथा ख़बरें इकट्ठा करने और ख़बरों के ज़रिए आंदोलन से जुड़े रहने पर केंद्रित थी'। चाहे बचपन में भारत छोड़ो आंदोलन के बिल्ले पहनने या जवानी में हाथ पर पट्टियाँ बाँधने की यादें हों या दीवारों पर कॉङ्ग्रेस के अनगिनत यादगार क्षण और प्रख्यात राष्ट्रवादी राजनेताओं की तस्वीरें हों — यहाँ 'घरेलू' दायरा 'राजनीतिक मुद्दों' से अटा पड़ा था। इस संपृक्ति को बनाए रखने में एक महत्वपूर्ण पहलू देशबंधु गुप्ता की पत्नी सोना देवी की मौजूदगी थी।

उस ज़माने में सोना देवी अनगिनत ज़िम्मेदारियाँ निभाती थीं। वह सक्रिय गतिविधियों से लेकर बच्चों को पालने-पोसने जैसे विविध काम करती थीं। पिकेटिंग संबंधी गतिविधियों के कारण उन्हें डेढ़ साल के लिए जेल की हवा भी खानी पड़ी जबकि दूसरी तरफ़ घर में उन्हें तहख़ाने के भीतर एक बॉयलर खौलाते रखना पड़ता था ताकि अगर कभी पुलिस का छापा पड़े तो ग़ैरक़ानूनी साहित्य को तत्काल जलाकर नष्ट किया जा सके। इसके बावजूद घर की राजनीतिक दशा-दिशा को दुरूस्त बनाए रखने में भी उन्हें मदद देनी पड़ती थी। सोना देवी सड़कों पर सक्रिय स्वयंसेवकों के लिए खाना पकाती थीं और जब घर से निकलती थीं तो घर की दूसरी महिलाएँ यह काम संभाल लेती थीं। राष्ट्रवादी आंदोलन में अपनी सेवाएँ देने के लिए दिल्ली आने वाले स्वयंसेवकों के खाने-पीने और रहने का भी इंतज़ाम करना पड़ता था और उन्हें अकसर दिल्ली स्थित इसी घर में ठहराया जाता था। परंपरागत रूप से चारों तरफ़ से बंद पर्दे की दीवारें इस क़दर बिखर चुकी थीं कि, बक़ौल रमेश गुप्ता, उनका घर और परिवार 'एक बरगद के पेड़ की तरह था जहाँ कोई भी आकर छाँव में सुस्ता सकता था'।

जब परिवार के प्रमुख सदस्य गिरफ़्तार कर लिए गए तो घर के सदस्यों का पेट पालने की ज़िम्मेदारी सोना देवी के ऊपर आ गई जबकि कॉङ्ग्रेस के नेता इसके बाद भी घर में आते और वहाँ उपलब्ध सुविधाओं का इस्तेमाल करते रहे। इसके बावजूद विश्वबंधु गुप्ता का कहना है कि वे लोग कभी संरक्षक पिता जैसा स्थान नहीं ले पाए। सोना देवी ने अपने दोनों बच्चों को लेकर जो ख़ास ज़िम्मेदारियाँ अपनाई हुई थीं उनके कारण इन लोगों को हमेशा मेहमान ही माना जाता था। गांधी द्वारा गिनाई गई ज़िम्मेदारियों के मुताबिक़ इन कामों में घर में रहते हुए शिक्षापरक पुस्तकें पढ़ने और बच्चों को खादी पहनने के लिए समझाने की ज़िम्मेदारी भी शामिल थी। इस प्रकार राजनीतिक और सार्वजनिक रूप से 'सक्रिय' रहने के साथ-साथ सोना देवी दूसरे रूप में भी सक्रिय थीं।

गुप्ता और अंसारी, दोनों घरों के विश्लेषण से पता चला है कि प्रत्यक्षतः राजनीतिक घरों में भी महिलाओं की कई ज़िम्मेदारियाँ ऐसी थीं जो 'सार्वजनिक' नहीं थीं परंतु फिर भी वह नाना प्रकार से राजनीतिक ज़िम्मेदारियाँ ही थीं। इस तरह के योगदान के लिए एक ऐसी सोच का होना ज़रूरी है जो उन घरों को भी राष्ट्रवादी आंदोलन के विवरणों में विस्तारपूर्वक शामिल कर सके, जो अब तक शामिल नहीं किए गए हैं।

गृहस्थल

नारीवादी विद्वानों ने सत्तर के दशक के बाद शोषणपरक संबंधों और घर को एक लैंगिक परिधि की शक्ल प्रदान करने वाली प्रदत्त मान्यताओं की खोजबीन की है (मैसी, 1994; फ़ेल्स्की, 1995; मैक्डॉवेल, 1999)। यंग (1997, पृष्ठ 134) ने दर्शाया है कि दि बोवेर घर को स्त्री के श्रम पर आश्रित एक सहायक संरचना के रूप में रेखांकित करती हैं। उत्तर औपनिवेशिक नारीवादियों, जैसे मार्टिन, मोहन्ती और दे लॉरेतिस, ने भी यही दर्शाया है कि एक सुरक्षित स्थल के रूप में घर किस प्रकार प्रायः अश्वेतों और श्रमिक वर्ग की बेदख़ली पर आश्रित रहता है (प्रैट, 1998; जॉर्ज, 1999, पृष्ठ 2; यंग, 1997, पृष्ठ 157)। घर दमनकारी भी हो सकता है इसलिए उसे सिर्फ़ एक एकीकृत तथा सुरक्षित पहचान की पनाहगार के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए — इस बात को रेखांकित करते हुए यंग (1997, पृष्ठ 156) का तर्क है कि घर की परिधि में एक मुक्तिदायी संभावना भी छिपी रहती है और वह व्यक्तिगत तथा सांस्कृतिक पहचान के एक मूल्यवान आधार का काम भी कर सकता है।

हाल में, हुक्स (1991) ने कुछ ख़ास घरों को 'गृहस्थलों' के रूप में देखने, उन्हें ऐसे सांस्कृतिक स्थलों के रूप में देखने का एक तरीक़ा सुझाया है जिन्होंने बाहरी दुनिया के श्वेत, पुरुष उत्पीड़न के बरक्स स्वर्ग का काम किया है। इन परिधियों को महिलाओं ने रचा था; यह घर 'उनके ख़ास दायरे' थे — 'एक संपत्ति के रूप में नहीं बल्कि ऐसे स्थानों के रूप में, जहाँ ऐसी हर चीज़ होती थी जो ज़िंदगी के लिए वाक़ई बामानी थी — आश्रय की गरमाहट और आराम, देह के लिए भोजन, आत्मा का पालन-पोषण' (हुक्स, 1991, पृष्ठ 41)। हुक्स ने इस बात को रेखांकित किया कि संभव है कि भले ही महिलाओं को एक प्रकार के उत्पीड़न के ज़रिए इन परिधियों में धकेला गया हो परंतु क्रमशः उन्होंने इन परिधियों को पोषणकारी, क्रांतिकारी परिधियों में रूपान्तरित कर दिया। अपने आप में हुक्स को चटर्जी के इस वक्तव्य को समझने के लिए संशोधक के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है कि बीसवीं सदी में महिलाओं का विराजनीतिकरण करके उन्हें दोबारा घरों के दायरों में क़ैद कर दिया गया। इसके ज़रिए हम यह भी समझ सकते हैं कि महिलाओं ने गांधी के आह्वान को किस तरह देखा होगा और घरों को उपनिवेशवाद विरोधी प्रतिरोध के केंद्र के रूप में कैसा स्वरूप प्रदान किया होगा।

सवाल यह उठता है कि इन गृहस्थलों को किस तरह बनाया और चलाया जाता था? पहली बात तो यह है कि इन गृहस्थलों की जड़ें भौतिक वस्तुओं में निहित थीं। हुक्स याद करती हैं कि उनकी दादी को 'इस बात का यक़ीन था कि जिस तरह हम ज़िंदगी जीते हैं उसकी शैली वस्तुओं से तय होती है। हम उन पर किस तरह नज़र डालते हैं, हमारे इर्द-गिर्द उन्हें किस तरह रखा जाता है। उन्हें यक़ीन था कि हम स्थानों के ज़रिए आकार लेते हैं' (हुक्स, 1991, पृष्ठ 11)। निर्मल मुखर्जी, जिनके पिता सेंट स्टीफेंस कॉलेज के प्रिंसिपल थे[16] और जिनका परिवार ईसाई था, ने एक साक्षात्कार में बताया कि बचपन में उनकी माँ की कुर्सी के ऊपर ईसा मसीह का एक चित्र लगा हुआ था और उसके बाईं तरफ़ जवाहर लाल नेहरू और सी. एफ. एन्ड्रयूज़ की तस्वीरें थीं, जो बेहद प्रभावशाली राष्ट्रीय नेताओं में गिने जाते थे। ये सजावटी चीज़ें घर की महिलाओं की ज़िम्मेदारी थीं। एक साक्षात्कार में डॉ. शीला उत्तम सिंह अपने युवाकाल के नई दिल्ली स्थित घर को याद करते हुए बताती हैं कि उसकी दीवारों पर परंपरागत भारतीय रेखांकन, सिक्ख गुरुओं की तस्वीरें और कॉङ्ग्रेस के उन अधिवेशनों के चित्र लगे हुए थे जिनमें परिवार के लोगों ने हिस्सा लिया था। इन्हीं के बीच परिवार के सदस्यों की तस्वीरें, पश्चिमी ढंग की कुर्सियाँ, मेज़ें और छुरी-काँटे भी रखे रहते थे। परंतु डॉ. उत्तम सिंह की दादी ने इन पश्चिमी वस्तुओं को इस्तेमाल करने से इनकार कर दिया और बाद में वह परंपरागत थाली में खाना खाने पर ज़ोर देने लगीं।

अपने मिश्रित भौतिक माहौल के साथ-साथ इस मकान का बेसिलसिला दायरा मोटे तौर पर राष्ट्रवादी भावनाओं और शब्दावली में डूबा हुआ था। डॉ. उत्तम सिंह के पिता आंखों के सर्जन थे और युरोपीय लोगों के साथ उनके व्यावसायिक संबंध थे। वह घर में ब्रिटिश नीतियों का विरोध करते थे और 'दुश्मन का दुश्मन हमारा मित्र है' वाले सूत्र के आधार पर हिटलर को एक रक्षक मानने की हद तक चले जाते थे। वह अख़बार में छपे ऐसे लेख पढ़-पढ़ कर सुनाते थे, जिनमें ब्रिटिश सरकार की आलोचना की जाती थी और यही अकसर राजनीतिक बहस-मुबाहिसे की ख़ुराक बनती थी। शिक्षा में सुधार के साथ-साथ राजनीति के बारे में होने वाली चर्चाओं में महिलाओं की हिस्सेदारी

बढ़ती जा रही थी। कई बार तो उनकी तालीम उनके बच्चों के ज़रिए हासिल होती थी। हाल ही में राजनीतिक रंग लिए संचार के पंरपरागत साधनों के ज़रिए होने वाली गपशप के सहारे भी सूचनाओं का प्रसार होता था। इनमें मंदिर में होने वाली चर्चाओं, पुरानी दिल्ली के गली-कूचों में छतों के आरपार बातचीत, बाज़ार में होने वाले बहस-मुबाहिसों और घर में आने वाले व्यापारियों के ज़रिए सूचनाओं के प्रसार में मदद मिलती थी। अपने आप में 'नई स्त्री' नई पितृसत्ता द्वारा आधुनिकता के चुने गए तत्वों के ज़रिए ही आकार नहीं ले रही थी जैसा कि चटर्जी ने तर्क दिया है। इसकी बजाय उन्होंने ख़ुद सक्रिय रूप से कोशिश करके ऐसी सूचनाएँ इकट्ठा कीं जो उन्हें विचारधारात्मक रूप से घरेलू स्तर पर राष्ट्र के पुनरुत्पादन की क्षमता प्रदान करती थीं।

रिश्तेदारों के बारे में परंपरागत 'ज़नाना बातचीत' (मिनो, 1984) और पारिवारिक झगड़ों की जगह ऐसी वैश्विक घटनाओं पर होने वाली चर्चा ने ले ली जिनके बारे में अब ये महिलाएँ जानने लगी थीं और जिनके बारे में वह अपने बच्चों को सिखा सकती थीं। राजनीति के सार्वजनिक दायरे में दाख़िल होने के लिए घर छोड़ने की बजाय महिलाओं को गृहस्थलों में ही राजनीतिक सूचना तक पहुँच हासिल होने लगी थी। पुरानी दिल्ली के केंद्र में रहने वाली श्रीमती केशवन की टिप्पणी थी, 'अब परिवार यह जान गए थे कि वह किस बारे में बात कर रहे हैं, जबकि पहले इसके मुक़ाबले बहुत सीमित ज्ञान होता था। कुल मिलाकर हमारी स्थिति काफ़ी बेहतर थी'। इन सांस्कृतिक दायरों में संगीत ने भी एक अहम भूमिका निभाई। पांडे (1995) ने इसका राष्ट्र के निम्नवर्गीय अंशों में निहित अल्पसंख्यक भाषाओं की चर्चा करते हुए उल्लेख किया है। जिन लोगों से साक्षात्कार लिए गए उनमें से बहुत सारे लोगों को याद था कि घर में परिवार के दूसरे लोगों के साथ वह वंदेमातरम[17] गाते थे। इसके अलावा वह ऐसे गीत भी गाते थे जिनमें गांधी को रक्षक, सम्राट या भाग्यविधाता बताया जाता था। डॉ. उत्तम सिंह ने अपने जीवन में काफ़ी बाद में इस बात को महसूस किया कि बचपन से उन्होंने जो गाना अब तक पकड़ा हुआ था वह 1928 में साइमन कमीशन विरोधी आंदोलन का गाना था।

इन गतिविधियों के ज़रिए एक ओर तो राष्ट्रवाद की पुनर्कल्पना संभव हुई और महिलाओं को घर की चारदीवारी के अंदर राजनीतिक क्षमताओं को अभिव्यक्त करने के मौक़े मिले, वहीं यह अहम है कि इन्हीं घरों में गांधी की खादी से जुड़ी परिकल्पनाओं ने ज़मीन पाई। ख़ासतौर से शुरुआती सालों में कताई की अपील तमाम समुदायों और वर्गों के लोगों के बीच असर दिखा रही थी (तार्लो, 1996)। कौशल्या लाल ने अपनी बहन, दिल्ली की नेता सत्यवती के बारे में बताया कि उन्होंने प्रख्यात महिला राष्ट्रवादी सरोजनी नायडू से भेंट में मिली अपनी एक बारीक कढ़ाई वाली खादी साड़ी एक ग़रीब ग्रामीण महिला को दे दी थी क्योंकि उसकी धोती फटी हुई थी।[18] कौशल्या ने आगे बताया कि 'मैंने बड़ी मेहनत से उनके लिए जो साड़ी बनाई थी उसका भी यही हश्र हुआ।'[19] न केवल सूत कातने बल्कि खादी पहनने को प्रोत्साहित करने की ज़िम्मेदारी भी पत्नी की ही होती थी। निर्मल मुखर्जी की माँ ने अपने पति के सारे सूट जला दिए और जब उनके विद्यार्थियों ने उन्हें खादी पहनने का सुझाव दिया तो उन्हें इसके लिए प्रोत्साहित किया।

परंतु जैसा कि तारलो ने कहा है, खादी सभी वर्गीय, जातीय और सामुदायिक सीमाओं को तोड़ने में कामयाब नहीं हो पाई (तारलो, 1996, पृष्ठ 91; विश्वेश्वरण, 1996)। सरल खादी पहनावे की एकरूपता और एक 'गांधी टोपी' को प्रतीकात्मक रूप से औपनिवेशिक शासन की 'फूट डालो और राज करो' की नीति के ख़िलाफ़ भारत को एकसूत्र में बाँधने वाला माना जाता था। परंतु कताई की सरल क्रिया के साथ अकसर निजी पसंद का मामला भी उलझा रहता था। डॉ. उत्तम सिंह को याद है कि उनकी चाची ने एक साड़ी बनाई थी जिसके किनारे पर तिरंगा बना हुआ था। जब डॉ. उत्तम सिंह बच्ची थीं तो उन्हें तोहफ़ों के एक डिब्बे के साथ यह साड़ी भी मिली थी। इन तोहफ़ों में और चीज़ों के अलावा खादी का एक टुकड़ा भी था, जो प्रतीकात्मक रूप से उनकी ज़िंदगी के आख्यान में भी जुड़ गया हालाँकि निजी तौर पर परिवार के लोग खादी को सिर्फ़ जाटों[20] और ग़रीबों के लिए ही उपयुक्त मानते थे।

परंतु खादी की पहचान ने उसे ऐसे हालात में भी इस्तेमाल के योग्य बना दिया जहाँ वह और किसी तरीक़े से नहीं पहुँच सकती थी। श्रीमती केशवन को याद है कि उनके वकील पिता को अदालत में एक सूट पहनकर

जाना था इसलिए उन्हें खादी की पोशाक ख़रीदनी पड़ी। परंतु उस वक़्त खादी की टाई नहीं होती थी। नतीजतन उनकी बेटियों और पत्नी ने एक युरोपीय टाई को परत-दर-परत खोलकर देखा कि वह कैसे बनाई जाती है और उसकी देखा-देखी भारतीय रेशम की बनी हुई टाई का एक जोड़ा तैयार कर दिया। उन्हें न केवल श्री केशवन ने पसंद किया बल्कि उनकी लॉ (क़ानून) कंपनी के सभी लोग उनकी तरफ़ आकर्षित हुए। जब वे घर लौटते तो ये कपड़े उतार कर परंपरागत भारतीय कुर्ता पहन लेते। जो लोग काम के मौक़े पर खादी नहीं पहन पाते थे वह भी घर पहुँचने पर अपने कपड़े और अपनी पहचान बदल लेते थे। एक साक्षात्कार में अपने पिता के बारे में बात करते हुए श्री पृथ्वीस चक्रवर्ती ने कहा कि वह 'एक शख़्सियत घर पर छोड़ कर जाते थे और अपना काम करते थे। जब वापस आ जाते थे तो अपना कोट उतार कर फिर ठेठ हिंदुस्तानी बन जाते थे... आंदोलन के भाषणों के बारे में बात करने लगते थे और आंदोलन के प्रति सौ फ़ीसदी समर्थन जताते थे।' जैसा कि ऑनिग (1994, पृष्ठ 583) ने सुझाव दिया है, यह घर का वह रूप है जो राजनीति से 'ऊर्जा प्राप्त' कर रहा था और यह अपनी मनोगत पहचान को पुनर्जीवित करने का स्थान था न कि निषेध या हिचकिचाहट का।

इन गृहस्थलों की अहमियत के बावजूद हुक्स का ज़ोर इस बात पर है कि और चीज़ों से काट कर अकेले घर पर ध्यान केंद्रित करना एक बेहद शून्यतावादी कृत्य होगा (हुक्स, 1991, पृष्ठ 141) चाहे घर ऐसी जगह ही क्यों न हो जहाँ व्यक्ति को बार-बार लौटकर आना है। व्यक्ति के जीवन के पुराने अनुभवों को नए ज्ञान और अनुभवों की तलाश, समाज के हाशिए के दोहन के साथ जोड़ना होगा जिसमें निजी ख़तरा और जोखिम भी शामिल रहता है। घर की राजनीति को स्थान की राजनीति के साथ जोड़ना होगा (हुक्स, 1991, पृष्ठ 145)। इसी प्रकार ऑनिग ने कहा है कि 'यदि घर राजनीति में एक सकारात्मक शक्ति है तो उसे एक अनिवार्य, पोषक, परंतु दीर्घकालिक, अंतर्विरोधी और तात्कालिक गठजोड़ के रूप में गठबंधन की शर्तों में ढलना होगा' (1994, पृष्ठ 583)। जैसा कि गांधी ने 1930 में पाया, महिलाएँ घर के भीतर क़ैद होकर संतुष्ट नहीं थीं। धीरे-धीरे वह बाहर भी अपना असर डाल रही थीं। वह गांधी के आह्वानों का अनुसरण कर रही थीं और उन्हें स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार शक्ल दे रही थीं। यानी धरने और जुलूसों के अलावा भी घर के बाहर महिलाओं के प्रभाव को नाना प्रकार से महसूस किया जा रहा था।

गाने गाते हुए और लोगों को घर से बाहर निकलने के लिए प्रोत्साहित करते हुए स्थानीय समुदायों में प्रभात फेरियाँ निकाली जाती थीं। हालाँकि इनमें महिलाएँ प्रत्यक्ष रूप से शामिल नहीं होती थीं पर बच्चे घर में सीखे हुए गाने गाते हुए उनमें शामिल हो जाते थे और वहाँ कुछ नए गाने सीखते थे जिनका घर लौट कर पूरे परिवार के साथ अभ्यास करते थे। इनके अलावा ऐसे दायरे भी थे जिन्हें आसानी से 'सार्वजनिक' या 'निजी' श्रेणी में नहीं रखा जा सकता था। इनका राजनीतिकरण हो चुका था और राष्ट्रवादी संगठनों ने उनका अधिग्रहण भी कर लिया था। परदा बाग़ चारदीवारी से घिरे और सुरक्षित ऐसे बाग़ होते थे जिनमें महिलाएँ परंपरागत रूप से मिला करती थीं। 1920 के दशक से उनका इस्तेमाल राजनीतिक मुद्दों पर बहस-मुबाहिसे के लिए भी होने लगा था। इस तरह के बाग़-बग़ीचों को इंद्रप्रस्थ बालिका विद्यालय के लिए खेल के मैदान या ऐसे ही अन्य उद्देश्यों के लिए बनाया गया था। डॉ. कपिला वात्स्यायन ने एक निजी साक्षात्कार में बताया कि लड़कियों को स्थानीय कॉङ्ग्रेसी कार्यकर्त्ता मीमोबाई पढ़ाती थीं और उन्हें 'तिरंगा झंडा ज़िंदाबाद, यूनियन जैक मुर्दाबाद' जैसे गाने सिखाती थीं।

घर और देह एक दूसरे को परस्पर निर्मित करते हैं। घर दैहिक व्यवहारों से बनता है जबकि देह घर के पालन-पोषण और अनुशासन में विकसित होती है। परंतु शरीर चलायमान होता है और उसको कहीं भी भेजा जा सकता है जबकि घर स्थिर रहता है। खादी पहनने में महिलाओं का घरेलू श्रम सड़क पर नुमायाँ होता था। इसके बावजूद महिलाओं का प्रभाव कई दूसरे तरीक़ों से भी दिखाई देता था। मिसाल के तौर पर डॉ. उत्तम सिंह ने एक ऐसे अवसर का ज़िक्र किया जब सम्राट जॉर्ज पंचम की मौत के बाद उनके कॉन्वेंट स्कूल की लड़कियों को 20 जनवरी 1936[21] को काली पट्टियाँ बाँधने के लिए दी गईं। 28 फरवरी को जब कमला नेहरू की मौत हुई तो एक बार फिर बच्चों के घरवालों के पास संदेश भिजवा दिया गया और लड़कियाँ दोबारा वही काली पट्टियाँ पहनकर स्कूल गईं। इस तरह के संगठन भी अस्तित्व में आए जो राष्ट्रवादी आंदोलन से दूर रहने वालों को

चूड़ियाँ भेंट करते थे क्योंकि चूड़ियों को कायरता का संकेत माना जाता है। इन्द्रप्रस्थ बालिका विद्यालय की लड़कियाँ सेंट स्टीफ़ेंस कॉलेज के रुढ़िवादी सदस्यों का घेराव करती थीं हालाँकि इन गतिविधियों में वर्गीय मुद्दे भी अहम थे। जब एक उच्च पदस्थ सरकारी अधिकारी की बेटी ने डॉ. स्वरूप सिंह को चूड़ियाँ भेंट कीं तो उन्होंने उस लड़की को सुझाव दिया कि बेहतर होगा कि वह ये चूड़ियाँ अपने पिता को भेंट करे। इस प्रकार, एक बार फिर सारा ध्यान सार्वजनिक विरोध पर ही केंद्रित हो जाता है। ऐसे में सड़क को घरेलू गतिविधियों और संघर्षों का समुच्चय भी माना जा सकता है। राष्ट्रवादी आंदोलन की ताक़त कॉङ्ग्रेसी अभिजन या सड़क पर होने वाले विशाल मुज़ाहिरों में नहीं थी। इसकी बजाय यह ताक़त गपशप, स्थानीय राजनीतिक गतिविधियों और सामुदायिक सभाओं के ज़रिए गृहस्थलों में फैली हुई थी।

रैडिकल पुनर्व्याख्या?

हालाँकि हम देख चुके हैं कि गांधी और कॉङ्ग्रेस के उकसावे को कुछ महिलाओं ने स्वीकार किया था परंतु बहुत सारी महिलाएँ ऐसी भी थीं जिनके लिए या तो स्त्रीत्व के ये स्वरूप उपलब्ध नहीं थे या जिन्होंने उन्हें स्वीकार नहीं किया। एक सिरे पर ऐसी महिलाएँ थीं जिन्होंने महिलाओं के अधिकारों और सम्मान के आह्वान को स्वीकार किया परंतु इस बारे में गांधी और कॉङ्ग्रेस की नज़र को ख़ारिज भी कर दिया कि नई भारतीय महिला कैसी होनी चाहिए। समूचे राष्ट्रवादी आंदोलन के दौरान महिलाओं ने क़ानून से भागने वालों को मदद देकर, बंदूक़ों की तस्करी और यहाँ तक कि बम फ़ैक्ट्रियों में काम के ज़रिए क्रांतिकारियों को मदद पहुँचाई (देखें थापर-योरकर्ट व रियान, 2002)। मगन किशोर जौहरी भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान सिनेमा घरों को विस्फोट से उड़ाने में शामिल थे और उनकी इन गतिविधियों पर ब्रिटिश सरकार का फ़ौरन ध्यान गया[22] जबकि अरुणा आसफ़ अली 1942 में भूमिगत होकर दिल्ली में छोटे पैमाने की क्रांतिकारी गतिविधियाँ संचालित करने के क्रम में कॉङ्ग्रेस से बाहर हो गईं (कौल, 1991)।[23]

दूसरे सिरे पर ऐसी महिलाएँ थीं जिनकी नियति चटर्जी द्वारा उल्लिखित रूप में हुई। यह बंधनमुक्त महिला शक्ति की नहीं बल्कि दोबारा बँधनों में बँध कर समर्पण कर देने वाली महिलाओं की नियति थी। 'गृहस्थलों' के बारे में होने वाली चर्चाएँ अकसर उस वस्तु विशेष को सरलीकृत कर सकती हैं जिसके बारे में हम बात करते हैं और यह भूल जाते हैं कि इस तरह के स्थल घर में महिलाओं की गतिविधियों का समुच्चय थे। इरीगारे व रोज़ (1996, पृष्ठ 69) ने दलील दी है कि स्त्री उस स्थिर और तयशुदा स्रोत का प्रतिनिधित्व करती है, जहाँ से व्यक्ति 'अपनी' शक्ति ग्रहण करता है। जहाँ एक तरफ़ पुरुष रचना और निर्माण करता है, वहीं दूसरी तरफ़ महिलाओं को नियंत्रित और बंद करके रखा जाता है। इरीगारे (1992, पृष्ठ 47) ने महिलाओं के लिए बोलते हुए कहा था, 'तुम मुझे जो स्थान देना चाहते हो वह तुम्हारे लिए मेरी ज़रूरत के मुताबिक़ है। तुम जो मुझे दिखाते हो वह ऐसा स्थान है जहाँ तुमने मुझे रख दिया है, ताकि मैं तुम्हारी ज़रूरतों के लिए तुम्हारे सामने उपलब्ध रहूँ।'

प्रैट (1998) का यह तर्क बिल्कुल सही है कि लैंगिक परिधि के द्वैधपूर्ण संगठन के बारे में हुक्स की अवधारणा इन बहिष्कृतियों को दोबारा पुष्ट करने का काम कर सकती है। अगर महिलाएँ ही गृहस्थल हैं तो वह उनसे जीने का ज़रिया कैसे हासिल कर सकती हैं? घर के भीतर महिलाओं की राजनीतिक गतिविधियों के बहुत सारे उदाहरणों को उतनी ही आसानी से सार्वजनिक, राजनीतिक रूप से सक्रिय पति द्वारा उनकी ज़िम्मेदारियों की सूची में जोड़ दिए गए एक और घरेलू काम के रूप में देखा जा सकता है। सादिकुर्रहमान क़िदवई ने अपने माता-पिता की पीढ़ी की गतिविधियों को याद करते हुए कहा कि जब पति के जेल चले जाने के बाद महिलाएँ परिवार के कपड़े-लत्ते और खाने-पीने की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए अपने छिट-पुट संसाधनों को इकट्ठा करके काम चलाती थीं तो उनकी इस गतिविधि को राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को मदद देने वाली गतिविधि माना जा सकता है। परंतु क्या पत्नी के रूप में महिलाओं के पास ऐसे हालात में कोई और विकल्प था? इसके अलावा बहुत सारी महिलाओं ने बच्चों की पढ़ाई-लिखाई को एक स्वतंत्र भारत के (पुनः)उत्पादन का ज़रिया बनाया परंतु क्या यह एक ऐसी ज़िम्मेदारी नहीं थी जिसका उन्हें किसी भी सूरत में पालन करना ही था और क्या इससे माँओं

को राष्ट्र के पुनर्जन्म की प्रतिनिधि के रूप में रखने या इस (पुनः)उत्पादन में सक्रिय हिस्सेदार के रूप में देखा जा सकता है? (कांदियोति, 2000)

संभव है कि कुछ महिलाएँ अपने पतियों को आराम और सुरक्षा प्रदान कर पायीं, परंतु जैसा कि सईदा खुर्शीद[24] को याद आता है, प्रत्यक्ष राजनीतिक गतिविधियों के दौर में बहुत सारे परिवारों को 'मर्दों के कारोबार' से बाहर कर दिया जाता था। इस तरह के द्वंद्व बहुत सारे मुस्लिम परिवारों में भी खड़े हुए जहाँ महिलाओं को पर्दे से बाहर निकलने में भी दिक़्क़त महसूस होती थी परंतु इसके बावजूद इन्हीं परिवारों को एकांतिक ज़िंदगी का ज़्यादा तजुरबा भी था। यहाँ तक कि शम्सुन्निसा अंसारी, जिनकी अपने राजनीतिक परिवार को संगठित करने में ज़बर्दस्त भूमिका थी, ने भी डॉ. अंसारी की राजनीतिक सोच को अनिवार्य रूप से बहुत प्रभावित नहीं किया। जैसा कि ज़ोहरा अंसारी कहती हैं, 'दोनों के बीच गहरी आपसी समझदारी थी और उन्होंने अपने पति के राजनीतिक जीवन पर कभी आपत्ति नहीं उठाई; वे आप मालिक थे'।[25] परंतु डॉ. नौलखा ने इस बात पर ज़ोर दिया कि हालाँकि उनकी माँ फूलचंद जैन के मुक़ाबले दबी हुई दिखाई देती थीं परंतु "महिलाएँ जिस प्यार पर आश्रित रहती थीं उसी वज़ह से परिवार को जोड़ने वाले बँधन मज़बूत रहते थे। आज्ञाकरिता दमन नहीं थी, बल्कि ये दोनों बिल्कुल जुदा चीजें हैं। आज्ञापालन का मतलब है कि तुम किसी के ऊपर आस्था रखते हो और उसका अनुसरण करते हो, जबकि दमन का मतलब वर्चस्व है। हमारे घर में एक बड़ा अच्छा समन्वय था।" बहरहाल इस आज्ञापालन के बावजूद महिलाएँ अपना खुद का राजनीतिक दायरा गढ़ सकती थीं। दमन का आशय भूमिकाओं का गला घोंटने से है।

'राजनीतिक' की परिभाषाएँ अनिवार्य रूप से मनमानी और विषयगत ही होती हैं, परंतु जैसा कि सईदा हमीद ने एक साक्षात्कार में कहा, 'उत्पीड़न' और 'समर्थन' के बीच फ़र्क़ तब सामने आता है जब पति अपने कार्यों और ज़िम्मेदारियों के बारे में बताता है और इस तरह अपनी पत्नी में भी उपलब्धि के भाव का संचार करता है। इन ब्योरों के केंद्र में किसी निहित उद्देश्य से प्रेरित, मानवतावादी व्यक्ति को ढूँढने की इच्छा से भी बचने की कोशिश करनी चाहिए (ओ'हैनलॉन, 2000, पृष्ठ 74)। कई मौक़े ऐसे रहे होंगे जब महिलाओं ने खुद को राष्ट्रीकरण आंदोलन का धड़ता दिल माना होगा, जबकि कई बार उन्होंने खुद को हाशिए पर और उपेक्षित पड़ा हुआ महसूस किया होगा। इस शोध का उद्देश्य घरेलू दायरे को महिलाओं की ताक़त पर विचार के लिए एक बिंदु के रूप में खोलना तथा ऐसे अवधारणात्मक उपकरण हासिल करना है जिनके सहारे प्रत्येक व्यक्ति और अलग-अलग घटनाओं का विश्लेषण किया जा सकता है।

निष्कर्ष

तीस और चालीस के दशकों में दिल्ली की राजनीतिक गतिविधियों में एक भारी उफ़ान आया और नतीजतन यहाँ की अलग-थलग मध्यवर्गीय महिलाओं की ज़िंदगी का ढर्रा बदल गया। दिल्ली की महिलाएँ उन गतिविधियों के दायरे में दाख़िल होने लगीं जिन्हें परंपरागत रूप से पुरुषों द्वारा और पुरुषों के लिए सुरक्षित माना जाता था। वह जलसे-जुलूसों में जाने लगीं, घेराव करने लगीं, पत्र-पत्रिकाओं में लिखने लगीं और सड़कों पर भाषण देने लगीं। यद्यपि इन महिलाओं की गतिविधियों को तो राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में जगह मिली है परंतु इन्हीं महिलाओं को ऐसा मानक बिंदु भी बना दिया गया जिनके बरक्स उन महिलाओं की तुलना की जाने लगी जो घर छोड़कर बाहर नहीं आईं। यहाँ तक कि सबॉल्टर्न इतिहासकारों ने भी उन महिलाओं को निष्क्रिय और मर्यादित करार दिया, जो घरों के दायरे में ही बनी रहीं।

इस शोध में ऐसे कई तरीक़ों का ब्योरा दिया गया है जिनके ज़रिए महिलाओं ने घर का राजनीतिकरण करने में मदद दी और एक ऐसी परिधि में अपनी जगह का दावा किया जिसे आमतौर पर ख़ामोशी और अधीनता का दायरा माना जाता था। जहाँ एक तरफ़ बड़े-बड़े कॉङ्ग्रेसी नेताओं की पत्नी और परिजनों ने अपने घरों को अनधिकृत राजनीतिक मुख्यालयों की शक्ल दे दी वहीं दूसरी तरफ़ अनगिनत महिलाएँ ऐसी भी थीं जिन्होंने राजनीतिक और घरेलू को एक दूसरे में गूँथ कर उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में मदद दी। गांधी के लेखों के अनुसार महिलाओं ने अपनी परंपरागत पोषणकारी भूमिकाओं को अपनाया और साथ ही अपनी अब तक की ज़िम्मेदारियों को कताई,

खाना पकाने, पनाह देने, कपड़े सीने और गाना गाने जैसी विरोध की नई तकनीकों में ढाल दिया। अपने आप में राजनीतिक गृहस्थलों की रूपरेखा इस तरह की थी जिनमें 'हाशिए' पर रहते हुए सक्रियता और समाज के जोखिम भरे दायरों से बचने की गुंजाइश भी थी और वह यदा-कदा पैमाने पर संतुष्टि और पोषण के भौतिक बिंदु भी थे। जब बहुत सारी महिलाएँ गांधी की शुरुआती सलाह का उल्लंघन करते हुए घर छोड़ कर निकल गईं तब भी बहुत सारी महिलाओं के लिए उनकी निजी परिधि ही राजनीतिक गतिविधियों का मुख्य बिंदु बनी रही।

गांधी ने एक स्थैतिक निर्धारण के ज़रिए राष्ट्रवाद की लैंगिक विडंबना को हल करने की कोशिश की। इसके लिए उन्होंने एक ऐसा दायरा गढ़ने की कोशिश की जिसमें महिलाएँ पुरुषों से कटे बिना राजनीतिक रूप से सक्रिय हो सकती थीं। अपने आप में अब तक निष्क्रिय राजनीतिक आबादी को नए सिरे से लामबंद किया गया परंतु जेंडर के आधार पर उन्हें 'अलग-अलग दायरों' की संज्ञा नहीं दी गई। राजनीति के बारे में गांधी की लचीली अवधारणा से बहुत सारे परिवारों के राजनीतिकरण में मदद मिली। परंतु इस खुलेपन के कारण इन सिद्धांतों को या तो पुनराधीन या अतिसक्रिय स्त्रीत्व के हक़ में ख़ारिज कर दिया गया। इतने लंबे समय के बाद इन परिधियों में पहुँचने के लिए बौद्धिक अध्ययन के मानकों की दोबारा समीक्षा करना आवश्यक है। व्यक्तिगत और पारिवारिक स्मृति अनिवार्य रूप से विकृति और त्रुटियों का शिकार हो सकती है परंतु इन घरेलू दायरों के बारे में सूचनाओं के अंतिम बिंदु के रूप में इन जोखिमों को उठाना ही होगा और उन्हें प्रतिसंतुलित करने के लिए लिखित सूचनाओं और तफ़्तीश की प्रक्रिया से गुज़रना होगा।

इस शोध की प्रासंगिकता स्त्री चेतना या स्वतंत्रता पूर्व दिल्ली के राष्ट्रवाद की सबॉल्टर्न अवधारणा के बारे में चलने वाली बहस से कहीं ज़्यादा है। इसमें नारीवादियों के इस दावे के समर्थन में साक्ष्य दिखाई देते हैं कि राजनीतिक आंदोलनों में महिलाओं का सिर्फ़ प्रतिनिधित्व ही नहीं किया जा सकता है बल्कि वह ख़ुद भी हिस्सेदार हो सकती हैं। परंपरागत रूप से पौरुषपूर्ण और टकराव आधारित सार्वजनिक दायरों में सिर्फ़ हिस्सेदारी करने के बजाय यह गतिविधि घर के निजी दायरों में भी संभव है। यंग, हुक्स और ऑनिग का अनुसरण करते हुए, घर को एक आविष्कारी और सहभागी परिधि के रूप में देखा जा सकता है न कि सिर्फ़ उत्पीड़न और आत्मपरीक्षण के दायरे के रूप में। और अंत में, घरेलू सीमाओं की छिद्रता की मौजूदगी का अर्थ है कि शहरी राजनीतिक आंदोलनों के अध्ययनों में सत्ता और पहचान के अंतरसीमायी प्रवाहों पर ध्यान देना होगा जो राष्ट्र और 'सार्वजनिक' को स्थानीय और 'निजी' से जोड़ते हैं; ऐसे प्रवाह जो बहुत सारे मामलों में पुरुषों के साथ-साथ महिलाओं की भी क्रियाओं और गतिविधियों से निर्धारित होते हैं।

अनुवादः योगेंद्र दत्त

आभार

इस लेख में मुझे क्यूबेक, केम्ब्रिज और लॉस ऐंजेलिस में दिए व्याख्यानों के दौरान मिली टिप्पणियों से काफ़ी लाभ हुआ है. इसके अलावा मैं जिम और नैंसी डंकन, निकोला हिग्गिन्स, गैरी केर्न्स, फ़्रंचेस्का ओरसीनी, लिंडा पीक, सारा रैडक्लिफ़, साइमन रीड-हेनरी, और तीन अज्ञात अनुशंसकों का भी आभार प्रकट करना चाहता हूँ जिन्होंने अपनी महत्वपूर्ण सलाह और मदद दी. जिन लोगों से मैंने साक्षात्कार लिए और दिल्ली प्रवास के दौरान जिन लोगों पर मैं आश्रित रहा उनकी मदद के बिना यह शोध संभव नहीं था. उन सभी का आभार.

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. 1885 में गठित भारतीय राष्ट्रीय कॉङ्ग्रेस जल्द ही भारत का सबसे बड़ा राष्ट्रवादी संगठन बन गया. यही संगठन वह प्रशासकीय साधन मुहैया कराता था जिनके ज़रिए सरकार के साथ होने वाली वार्ताओं को जनांदोलनों तथा सामाजिक अभियानों के साथ जोड़ा जाता था.
2. सिविल नाफ़रमानी आंदोलन के उद्घाटन के लिए गांधी और कुछ चुनिंदा समर्पित वॉलंटियरों ने अहमदाबाद से भारत के पश्चिमी तट पर स्थित दाँडी तक का 240 किलोमीटर लंबा मार्च आयोजित किया. 5 अप्रैल 1930 को दाँडी पहुँचने पर गांधी जी ने नमक उत्पादन पर ब्रिटिश सरकार की इजारेदारी को तोड़ते हुए समुद्र के पानी से नमक बनाया और इस तरह एक जनांदोलन का सूत्रपात कर दिया.
3. हसन ख़ान, ख़ान अहमद (1933) *सेंसस ऑफ़ इंडिया* 1931, खंड 16ः *दिल्लीः रिपोर्ट ऐण्ड टेबल्स* (लाहौर, सिविल ऐण्ड मिलिट्री प्रेस); फ़ज़ले इलाही (1942) *सेंसस ऑफ़ इंडिया 1941*, खंड 16ः दिल्ली (शिमला, गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया प्रेस).
4. दिल्ली अभिलेखागार, गृह विभाग फ़ाइल (गोपनीय) 1930, 55 ख.
5. दिल्ली पाक्षिक रिपोर्ट, 1930, 6 मई.

6. दिल्ली पाक्षिक रिपोर्ट, 1930, 6 जून.
7. नेहरू स्मृति संग्रहालय एवं पुस्तकालय (यहाँ के बाद एनएमएमएल), अखिल भारतीय कॉङ्ग्रेस कमेटी फ़ाइल, जी 94/1930, भाग 1.
8. सरला शर्मा छात्रा और कम्युनिस्ट समर्थक थीं. वह चालीस के दशक में राजनीति में सक्रिय थीं और उनके परिवार में राजनीतिक माहौल था.
9. चालीस के दशक में श्रीमती चक्रवर्ती इंद्रप्रस्थ बालिका महाविद्यालय की सदस्य थीं. इस महाविद्यालय के कर्मचारी और विद्यार्थी तीस और चालीस के दशक में राष्ट्रवादी गतिविधियों में निरंतर सक्रिय रहे.
10. चालीस के दशक में एक सक्रिय समाजवादी कार्यकर्त्ता.
11. भारत सरकार, गोपनीय (1934) *दिल्ली प्रॉविंशियल हू इज़ हू* (नई दिल्ली, गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया प्रेस).
12. दिल्ली पाक्षिक रिपोर्ट 1932, 15 जनवरी.
13. 'बेगम' शब्द सम्मानित मुस्लिम महिलाओं के नाम से पहले लगाया जाता है.
14. एनएमएमएल अभिलेख 533, श्रीमती ज़ोहरा अंसारी, 3 नवंबर 1974 को डॉ. हरिदेव शर्मा द्वारा रिकॉर्ड किया गया.
15. एनएमएमएल अभिलेख, श्रीमती ज़ोहरा अंसारी, 26.
16. एस. एन. मुखर्जी 1926 में दिल्ली स्थित सेंट स्टीफेंस कॉलेज के छठे प्राधानाचार्य बने. वह 1912 में इस कॉलेज में आए थे (मोन्क, 1935, पृ. 218). कॉलेज अधिकारियों को लगता था कि विश्वविद्यालय को चलाने के लिए 'किसी विदेशी की बजाय एक भारतीय ज़्यादा बेहतर' साबित होगा. 1930 के सिविल नाफ़रमानी आंदोलन के दौरान यह सोच सही साबित हुई. इस समय मुखर्जी ने 'द नैशनलिस्ट' नाम का एक डिबेटिंग फ़ोरम शुरू किया जिसमें 'अराजकतावादी देशभक्ति के उत्साह' को 'सकारात्मक' स्वदेशी के प्रोत्साहन तथा 'नकारात्मक' बहिष्कार की मुख़ालफ़त जैसे व्यावहारिक तरीक़ों से दिशा दी गई (मॉन्क, 1935, पृ. 233).
17. कॉङ्ग्रेस ने इस गीत को एक राष्ट्रवादी राष्ट्रगान के रूप में प्रचारित किया था.
18. एक क़िस्म का पहनावा जिसमें कमर के निचले हिस्से के इर्द-गिर्द एक कपड़ा लिपटा होता था. यह पहनावा आमतौर पर छोटे वर्गों में प्रचलित था.
19. कौशल्या लाल (1985) *दिल्ली की जेन ऑफ़ आर्क* में 'माई सिस्टरः माई गुरु'.
20. जाट सामान्यतः क्षत्रिय जाति का एक उपसमूह है और वह आम तौर पर कृषि कार्य करते हैं. उनमें से बहुतों को ब्रिटिश सेना में भी भर्ती किया गया. उनकी इस बात के लिए आलोचना की जाती है कि उन्होंने राष्ट्रवादी आंदोलन में उत्साहपूर्वक हिस्सा नहीं लिया.
21. साक्षात्कार में सही-सही तारीख़ नहीं बताई गई बल्कि अभिलेखागार के ज़रिए इन तारीख़ों की जानकारी हासिल की गई है और उन्हें यहाँ दिया जा रहा है. जॉर्ज पंचम के लिए देखें रोज़ (1983, पृ. 401) और कमला नेहरू के लिए, देखें वॉलपर्ट (1996, पृ. 199).
22. एमएमएनएल अभिलेख, मगन किशोर जौहरी, डॉ. हरदेव शर्मा द्वारा दर्ज किया गया, 5.
23. आसफ़ अली को भारत छोड़ो आंदोलन में उस समय विशेष ख्याति मिली जब उन्होंने अगस्त 1942 की व्यापक गिरफ़्तारियों के दौरान बंबई में कॉङ्ग्रेस का झंडा फहराया. कुछ समय बाद वह दिल्ली लौटीं और आंदोलन के ख़त्म होने तक अंग्रेज़ों की आँखों में धूल झोंकती रहीं. उन्होंने विद्यार्थियों को संगठित किया और समूचे ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में तोड़-फोड़ तथा बम विस्फोटों को बढ़ावा दिया. वह भारत के भूमिगत नेताओं में एक प्रमुख हस्ती थीं और उन्होंने दिल्ली के पुरुष और रूढ़िवादी कॉङ्ग्रेसी नेताओं की अहिंसापालन की माँग ठुकरा दी थी.
24. सईदा खुर्शीद दिल्ली के एक जाने-माने शिक्षाविद और राजनेता, ज़ाकिर हुसैन, की बेटी थीं.
25. एमएमएनएल अभिलेख, 533, श्रीमती ज़ोहरा अंसारी, 27.

संदर्भ

शाहिद अमीन, *इवेंट, मेटाफ़र, मेमरीः चौरी-चौरा 1922-1992*, बर्कले, सीए, कैलीफ़ोर्निया युनिवर्स्टी प्रेस, 1995.

डेविड आर्नल्ड, *गांधी*, हार्लो, लॉंगमैन, 2000.

उषा बाला, *इंडियन वीमेन फ्रीडम फाइटर्स 1857-1947*, नई दिल्ली, मनोहर, 1986.

सुरेष्ट आर. बाल्ड, 'द पॉलिटिक्स ऑफ़ गांधीज़ "फ़ेमिनिज्म"ः कंस्ट्रक्टिंग "'सीताज़' फ़ॉर स्वराज़", सीता रेंचोर्ड–निलसन व मेरी एन. तेब्रो (संपादित) *विमेन, स्टेट्स ऐण्ड नेशनलिज़्मः एट होम इन द नेशन?*, लंदन, रटलेज, 2000.

हिमानी बनर्जी, 'प्रॉजेक्ट्स ऑफ़ हेजेमनीः टुवर्ड्स ए क्रिटीक ऑफ़ सबॉल्टर्न स्टडीज़ 'रेज़ोलूशन ऑफ़ द विमेंस क्वेश्चन', *इकनॉमिक ऐण्ड पॉलिटिकल वीकली*, 35, 11 मार्च, 2000, पृ. 902-920.

अपर्णा बासु व भारती रे, विमेंस *स्ट्रगलः ए हिस्ट्री ऑफ़ दि ऑल इंडिया विमेंस कॉन्फ्रेंस*, 1927-1990, नई दिल्ली, मनोहर, 1990.

उर्वशी बुटालिया, *दि अदर साइड ऑफ़ सायलेंस*, हार्स्ट ऐण्ड कंपनी, लंदन, 2000.

दीपेश चक्रवर्ती, 'ट्रैफ़िकिंग इन हिस्ट्री ऐण्ड थ्यॉरीः सबॉल्टर्न स्टडीज़', रूथवेन केनेथ नोवेल्ज़ (सं.) *बियॉन्ड द डिसिप्लिन्सः द न्यू ह्यूमैनिटीज़*, ऑस्ट्रेलियन एकेडमी ऑफ़ ह्यूमैनिटीज़, कैनबरा, 1991.

दीपेश चक्रवर्ती, 'द डिफ़रेंस-डेफ़रल ऑफ़ अ कॉलोनियल मॉडर्निटी; पब्लिक डिबेट्स ऑन डोमेस्टीसिटी इन ब्रिटिश बंगाल', डेविड आर्नल्ड एवं डेविड हार्डिमैन (सं.) *सबॉल्टर्न स्टडीज़ VIII एसेज़ इन ऑनर ऑफ़ रणजीत गुहा,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1994.

दीपेश चक्रवर्ती, 'मायनॉरिटी हिस्ट्रीज़ सबॉल्टर्न पास्ट्स', *इकनॉमिक ऐण्ड पॉलिटिकल वीकली,* 33, 28 फरवरी, 1998, पृ. 473-77.

रॉबर्ट विलियम कॉनेल, 'द स्टेट जेंडर सेक्शुअल पॉलिटिक्सः थ्यॉरी ऐण्ड एपरेज़ल', *थ्यॉरी ऐण्ड सोसायटी,* 19, 1990, पृ. 507-44.

पार्थ चटर्जी, *नैशनलिस्ट थॉट ऐण्ड द कॉलोनियल वर्ल्डः ए डेरिवेटिव डिस्कोर्स,* यूनाइटेड नेशंस युनिवर्सिटी के लिए ज़ैड द्वारा प्रकाशित, लंदन, 1986.

पार्थ चटर्जी, 'द नैशनलिस्ट रेज़ोल्यूशन ऑफ़ द विमेन्स क्वेश्चन', कुमकुम संगारी एवं सुदेश वैद (सं.) *रीकास्टिंग विमेनः एसेज़ इन कॉलोनियल हिस्ट्री,* नई दिल्ली, काली फ़ॉर विमेन, 1989.

पार्थ चटर्जी, 'ए रिलिजन ऑफ़ अर्बन डोमेस्टिसिटीः श्री रामकृष्णा ऐण्ड द कैलकटा मिडिल क्लास', पार्था चटर्जी एवं ज्ञानेंद्र पांडे (सं.) *सबॉल्टर्न स्टडीज़ः राइटिंग्ज़ ऑन साउथ एशियन हिस्ट्री ऐण्ड सोसायटी,* खंड 7, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1992.

पार्थ चटर्जी, *द नेशन ऐण्ड इट्स फ़्रैगमेंट्सः कॉलोनियल ऐण्ड पोस्ट कॉलोनियल हिस्ट्री,* प्रिंस्टन युनिवर्सिटी प्रेस, एनजे, 1993.

हलिडे एडिब, *इनसाइड इंडिया,* जॉर्ज ऐलन ऐण्ड अनविन, लंदन, 1993.

रीटा फ़ेल्स्की, *द जेंडर ऑफ़ मॉडर्निटी,* हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, एमए 1995.

जेराल्डीन फ़ॉर्ब्स, *द न्यू केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया IV.2. विमेन इन मॉर्डन इंडिया,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस 1996.

एडवर्ड मॉर्गन फ़ॉर्स्टर, 'लेटर टू फ्लॉरेंस बर्जर', *सेलेक्टेड लेटर्स ऑफ़ ई.एम. फ़ॉर्स्टर V.1. 1879-1920* (सं.) मैरी लेगो एवं फिलिप्स निकोलस फ़रबैंक, कॉलिंस, लंदन, 1912.

मिशेल फ़ूको, 'टू लेक्चर्स' i) 7/1/76, मिशेल फ़ूको, *पॉवर/नॉलेजः सेलेक्टेड इन्टर्व्यूज़ ऐण्ड अदर राइटिंग्स 1972-77* (सं. एवं अनु.) कॉलिन गॉर्डन, हार्वेस्टर प्रेस, ब्राइटन, 1980.

रिचर्ड फ़ॉक्स, 'गांधी ऐण्ड फेमिनाइज़्ड नैशनलिज़्म इन इंडिया', ब्रैकेट विलियम्स (सं.) *विमेन आउट ऑफ़ प्लेसः द जेंडर ऑफ़ एजेंसी ऐण्ड द रेस ऑफ़ नैशनैलिटी,* रटलेज, लंदन, 1996.

मोहनदास करमचंद गांधी, 'स्पीच ऐट मीटिंग ऑफ़ मिल हैड्स', अहमदाबाद, 1920, पुष्पा जोशी, *गांधी ऑन विमेन,* नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1988.

मोहनदास करमचंद गांधी, 'टेयर डाउन द पर्दा', 1927, पुष्पा जोशी, *गांधी ऑन विमेन,* नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1988.

मोहनदास करमचंद गांधी, 'द फंक्शन ऑफ़ विमेन', 1928 ए, पुष्पा जोशी, *गांधी ऑन विमेन,* नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1988.

मोहनदास करमचंद गांधी, 'लेटर टू डॉ. एम.ए. अंसारी', 1928 बी, पुष्पा जोशी, *द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ़ महात्मा गांधी खंड 41,* पब्लिकेशन डिविज़न, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली, 1988.

मोहनदास करमचंद गांधी, 'दि अंसारी धर्मशाला', 1931, *द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ़ महात्मा गांधी खंड 51,* पब्लिकेशन डिविज़न, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली.

रोज़मेरी मैरॉन्गॉली जॉर्ज, *द पॉलिटिक्स ऑफ़ होमः पोस्टकॉलोनियल रीलोकेशंस ऐण्ड ट्वैंटिएथ-सेंचुरी फ़िक्शन,* बर्कले, सीए, युनिवर्सिटी ऑफ़ केलिफ़ोर्निया प्रेस, 1999.

जेमी बैक्स्टर एवं जॉन आइल्स, 'इवैल्युएटिंग क्वालिटेटिव रिसर्च इन सोशल ज्यॉग्रफ़ीः एस्टेब्लिशिंग "रिगर" इन इंटरव्यू एनैलिसिस', *ट्रांज़ेक्शन ऑफ़ दि इंस्टीट्यूट ऑफ़ ब्रिटिश ज्यॉग्रफ़र्स,* 22, 1996, पृ. 505-525.

इंद्रपाल ग्रेवाल, *होम ऐण्ड हैरमः नेशन, जेंडर, एम्पायर, ऐण्ड द कल्चर्स ऑफ़ ट्रैवेल,* लेस्टरशर युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1996.

मेरी हेंकॉक, 'होम साइंस एंण्ड द नैशनलाइज़ेशन ऑफ़ डोमेस्टीसिटी इन कॉलोनियल इंडिया', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़,* 35, 2001, पृ. 871-903.

मुशीरुल हसन, *एम.ए. अंसारी,* पब्लिकेशन डिविज़न, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली, 1995.

बॉनी हॉनिग, 'डिफ़्रेंट डिलेमाज़ ऐण्ड द पॉलिटिक्स ऑफ़ होम', *सोशल रिसर्च,* 61, 1994, पृ. 563-597.

बेल हुक्स, *रेस, जेंडर ऐण्ड कल्चरल पॉलिटिक्स,* टर्नअराउंड, लंदन, 1991.

लूस इरीगारे, *ऐलीमेंटल पैशंस,* जोन कॉली एवं जुडिथ स्टिल (अनु.), लंदन, एथलॉन, 1992.

पैट्रीशिया जेफ़्री, *फ़्रॉग्स इन ए वेलः इंडियन विमेन इन पर्दा,* लंदन, ज़ेड प्रेस, 1979.

डेनिज़ कांदीओती, 'आइडेंटिटी ऐण्ड इट्स डिस्कंटेंट्सः विमेन ऐण्ड द नेशन्स', *मिलेनियम,* 20, 1991, पृ. 429-43.

डेनिज़ कांदीओती, गेस्ट एडिटर्स इंट्रोडक्शन 'दि ऑक्वर्ड रिलेशनशिपः जेंडर ऐण्ड नैशनलिज़्म', *नेशन्स ऐण्ड नैशनलिज़्म,* 6, 2000, पृ. 491-94.

लीला कस्तूरी और वीना मजुमदार, *विमेन ऐण्ड इंडियन नैशनलिज़्म,* विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2000.

त्रिलोकी नाथ कौल, *अरुणा आसफ़ अलीः अ प्रोफ़ाइल,* लॉसर इंटरनैशनल, नई दिल्ली, 1994.

मधु किश्वर, *गांधी ऐण्ड विमेन*, मानुषी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994.

नीता कुमार, इंट्रोडक्शन, *विमेन ऐज़ सब्जेक्ट्सः साउथ एशियन हिस्ट्रीज़,* शार्लेट्सविले, वीए, युनिवर्सिटी प्रेस ऑफ़ वर्जीनिया, 1994.

राधा कुमार, *द हिस्ट्री ऑफ़ डूइंगः एन इलस्ट्रेटेड एकाउंट ऑफ़ मूवमेंट्स फ़ॉर विमेंज़ राइट्स ऐण्ड फ़ेमिनिज़्म इन इंडिया*, वर्सो, लंदन, 1993.

शाहीदा लतीफ़, *मुस्लिम विमेन इन इंडियाः पॉलिटिकल ऐण्ड प्राइवेट रिऐलिटी,* काली फ़ॉर विमेन, नई दिल्ली, 1990.

डेविड लडेन, *रीडिंग सबॉल्टर्न स्टडीज़ः क्रिटिकल हिस्ट्री,* कॉंटेस्टेड मीनिंग, ऐण्ड द ग्लोबलाइज़ेशन ऑफ़ साउथ एशिया, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली, 2001.

राजन महान, *विमेन इन इंडियन नैशनल कॉंड्रेस,* रावत पब्लिकेशंस, जयपुर, 1999.

डारिन मैसी, *स्पेस, प्लेस ऐण्ड जेंडर,* पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज, 1994.

तमार मायर, जेंडर आयरनीज़ ऑफ़ नैशनलिज़्मः सेटिंग द स्टेज, तमार मायर (सं.) *जेंडर आयरनीज़ ऑफ नैशनलिज़्मः सैक्सिंग द नेशन,* रटलेज, लंदन, 2000.

लिंडा मैक्डॉवेल, *जेंडर, आइडेंटिटी ऐण्ड प्लेसः अंडरस्टेंडिंग फ़ेमिनिस्ट ज्यॉग्रफ़ीज़,* पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज 1999.

निवेदिता मेनन, *जेंडर ऐण्ड पॉलिटिक्स इन इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1993.

गेल मिनो, 'बेगमती ज़ुबानः विमेंस लैंग्वेज़ ऐण्ड कल्चर इन नाईंटीथ सेंचुरी डेल्ही', *इंडिया इंटरनैशन क्वार्टर्ली,* 11, पृ. 155-71, 1984.

आशिस नंदी, *इंटीमेट एनिमी, लॉस ऐण्ड रिकवरी ऑफ़ सेल्फ़ अंडर कॉलोनियलिज़्म,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1983

आशिस नंदी, 'विमेन वर्सेज़ विमेनलीनैस : ऐन एसे इन स्पेक्यूलेटिव सायकोलॉजी', बलराम नंदा (सं.) *इंडियन विमेन : फ़्रॉम पर्दा टू मॉडर्निटी,* संगम बुक्स, लंदन, 1990.

रोज़ालिंड ओ'हैनलन, 'रिकवरिंग द सब्जेक्टः सबॉल्टर्न स्टडीज़ ऐण्ड हिस्ट्रीज़ ऑफ़ रेज़िस्टेंस इन कॉलोनियल साउथ एशिया', विनायक चतुर्वेदी (सं) *मैपिंग सबॉल्टर्न स्टडीज़ ऐण्ड द पोस्टकॉलोनियल,* वर्सो, लंदन, 2000.

फ़्रेंचेस्का ओर्सीनी, *द हिन्दी पब्लिक स्फ़ीयरः लैंग्वेज़ ऐण्ड लिटरेचर इन द एज ऑफ़ नैशनलिज़्म,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 2002.

ज्ञानेंद्र पांडे, 'वॉयसेज़ फ़्रॉम दि एजः द स्ट्रगल टू राइट सबॉल्टर्न हिस्ट्रीज़', *एथ्नॉस,* 60, 1995, पृ. 223-42.

सुजाता पटेल, 'कंस्ट्रक्शन ऐण्ड रीकंस्ट्रक्शन ऑफ़ विमेन इन गांधी', *इकनॉमिक ऐण्ड पॉलिटिकल वीकली,* 23, 1988, पृ. 377-87.

राबर्ट पर्क्स एवं एलीस्टेयर थॉमसन, *दि ओरल हिस्ट्री रीडर,* रटलेज, लंदन, 1998.

ज्ञान प्रकाश, 'राइटिंग पोस्ट-ओरिएंटलिस्ट हिस्ट्रीज़ ऑफ़ द थर्ड वर्ल्डः पर्सपेक्टिव्ज़ फ्रॉम इंडियन हिस्टोरियॉग्रफ़ी', *कम्पैरेटिव स्टडीज़ इन सोसायटी ऐण्ड हिस्ट्री,* 32, 1990, पृ. 383.

जेराल्डीन प्रैट, 'ज़्यॉग्रफ़िक मेटाफ़र्स इन फेमिनिस्ट थ्यॉरी', सुसन हार्डी ऐकन, एन ब्रिगमेन एवं सैली ए. मार्थसन (सं.) *मेकिंग वर्ल्डः जेंडर, मेटाफ़र, मेटेरियेलिटी,* ऐरिज़ोना युनिवर्सिटी प्रेस, टक्सन, ऐरिज़ोना, 1998.

सारा ए रैडक्लिफ़, एम्बॉडीइंग नैशनल आइडेंटिटीज़ः 'मेस्तिज़ो मैन ऐण्ड व्हाइट विमेन इक्वेडोरियन रेशियल — नैशनल इमैजिनरीज़', *ट्राज़ैक्शन ऑफ़ दि इंस्टीट्यूट ऑफ़ ब्रिटिश ज़्यॉग्रफ़र्स,* 24, 1999, पृ. 213-25.

जी.जी. रहेजा, एवं ए.जी. गोल्ड, *लिसन टू द हेरोंस वर्ड्सः रीइमेजिनिंग जेंडर ऐण्ड किनशिप इन नॉर्थ इंडिया,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ॉर्निया प्रेस, सीए, बर्कले, 1994.

सीता रणछोड़-निल्सन, एवं मेरी एन. तैत्रो, (सं.), *विमेन, स्टेट्स ऐण्ड नैशनलिज़्मः ऐट होम इन द नेशन?* रटलेज, लंदन, 2000.

जिलियन रोज़, 'ऐज़ इफ़ द मिरर्स हैड ब्लेडः मैस्क्युलिन ड्वेलिंग, मैस्क्युलिनिस्ट थ्यॉरी ऐण्ड फ़ेमिनिस्ट मैस्करेड', नैंसी डंकन (सं.) *बॉडी स्पेसः डीस्टेबीलाइज़िंग ज़्याग्रफ़ीज़ ऑफ़ जेंडर सैक्शुऑलिटी,* रटलेज, लंदन, 1996.

तनिका सरकार, 'ऑर्थोडॉक्सी, कल्चरल नैशनलिज़्म ऐण्ड हिन्दुत्व वायलेंसः एन ओवरव्यू ऑफ़ द जेंडर आइडियोलॉजी ऑफ़ द हिंदू राइट', रूथ रोश पियर्सन (सं.) *नेशन, एम्पायर, कॉलनीः हिस्टॉरिसाइज़िंग, जेंडर ऐण्ड रेस,* इंडियाना युनिवर्सिटी प्रेस, इंडियाना, ब्लूमिंगटन, 1998.

युआन पी. शार्प, 'जेंडर्ड नेशनहुडः ए फ़ैमिनिस्ट एंगेजमेंट', नैंसी डंकन (सं.) *बॉडीस्पेसः डीस्टेबीलाइज़िंग ज़्याग्रफ़ीज़ ऑफ़ जेंडर सैक्शुऑलिटी,* रटलेज, लंदन, 1996.

मैडलीन स्लेड, *द स्पीरिट्स पिल्ग्रिमेज,* लाँगमैन, लंदन, 1960.

तार्लो एम्मा, *क्लोदिंग मैटर्सः ड्रेस ऐण्ड आइडेंटिटी इन इंडिया,* हर्स्ट ऐण्ड कंपनी, लंदन, 1996.

सुरुचि थापर ब्यॉरकर्ट एवं लुईज़े रियान, 'मदर इंडिया/मदर आयरलैंडः कम्पेरेटिव जेंडर्ड डायलॉग्स ऑफ़ कॉलोनियलिज़्म ऐण्ड नैशनलिज़्म इन दि अर्ली ट्वैंटिएथ सैंचुरी', *विमेंस स्टडीज़ इंटरनैशनल फ़ोरम,* 25, पृ. 301-13.

कमला विश्वेश्वरण, 'स्मॉल स्पीचेज़, सबॉल्टर्न जेंडरः नैशनलिस्ट आयडियॉलॉजी ऐण्ड इट्स हिस्टोरियॉग्रफ़ी', शाहिद अमीन एवं दीपेश चक्रवर्ती (सं.) *सबॉल्टर्न स्टडीज़ : राइटिंग्स ऑन साउथ एशियन हिस्ट्री ऐण्ड सोसाइटी,* खण्ड 9, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1996.

आयरिश यंग मेरियन, *इंटरसेक्टिंग वॉयसेज़ः डिलेमा ऑफ़ जेंडर, पॉलिटिकल फ़िलासफ़ी ऐण्ड पॉलिसी,* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, एनजे, प्रिंसटन, 1997.